वार्षिक रु. ६० मूल्य रु. ८.००

विवेक-ज्योति

वर्ष ४८ अंक ९ सितम्बर २०१०

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)

मंगल कामना

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्।।

सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

सितम्बर २०१०

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४८
अंक ८

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम,
रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : ८१०९१ २७४०२)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

।। आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ।।

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

वर्ष ४८ **सितम्बर २०१०** **अंक ९**

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

आत्मानात्मविवेकः कर्तव्यो बन्धमुक्तये विदुषा ।
तेनैवानन्दी भवति स्वं विज्ञाय सच्चिदानन्दम् ।।१५२

अन्वय – विदुषा बन्धमुक्तये आत्म-अनात्म-विवेकः कर्तव्यः, तेन एव स्वं सच्चिदानन्दं विज्ञाय आनन्दी भवति ।

अर्थ – विचारवान व्यक्ति को संसार-बन्धन से मुक्ति हेतु आत्म-अनात्म-विवेक का अभ्यास करना चाहिये । इस विचार के द्वारा ही वह अपने सच्चिदानन्द-ब्रह्म-स्वरूप को जानकर आनन्दमय हो जाता है ।

मुञ्जादिषीकामिव दृश्यवर्गा-
त्प्रत्यञ्चमात्मानमसङ्गमक्रियम् ।
विविच्य तत्र प्रविलाप्य सर्वं
तदात्मना तिष्ठति यः स मुक्तः ।।१५३।।

अन्वय – मुञ्जात् इषीकाम् इव दृश्य-वर्गात् प्रत्यंचम् असङ्गम् अक्रियम् आत्मानं विविच्य तत्र सर्वं प्रविलाप्य तदा यः आत्मना तिष्ठति, स मुक्तः ।

अर्थ – जैसे मुँज-घास के छिलके को हटाकर उसके तिनके को निकाल लिया जाता है, वैसे ही (शरीर-मन आदि) सभी दृश्य पदार्थों में से विचार के द्वारा द्रष्टा, निर्लिप्त, निष्क्रिय आत्मा को पृथक् करके, उसी में सब कुछ को विलीन करके, जो आत्मा के साथ अभिन्न होकर रहता है, वही मुक्त है ।

देहोऽयमन्नभवनोऽन्नमयस्तु कोश-
श्चान्नेन जीवति विनश्यति तद्विहीनः ।
त्वक्चर्ममांसरुधिरास्थिपुरीषराशि-
र्नायं स्वयं भवितुमर्हति नित्यशुद्धः।।१५४।।

अन्वय – अन्नभवनः अयं देहः तु अन्नमयः कोशः च अन्नेन जीवति, तद्-विहिनः विनश्यति । अयं त्वक्-चर्म-मांस-रुधिर-अस्थि-पुरीष-राशिः, स्वयं नित्यशुद्धः भवितुम् अर्हति न ।

अर्थ – अन्न से उत्पन्न यह देह ही अन्नमय-कोश है । यह अन्न से जीवित रहता है और उसके अभाव में नष्ट हो जाता है । त्वचा, चर्म, मांस, रक्त, अस्थि, विष्ठा आदि की राशि यह शरीर – नित्य-शुद्ध आत्मा होने के योग्य नहीं है ।

पूर्वं जनेरधिमृतेरपि नायमस्ति
जातक्षणः क्षणगुणोऽनियतस्वभावः ।
नैको जडश्च घटवत्परिदृश्यमानः
स्वात्मा कथं भवति भावविकारवेत्ता ।।१५५।।

अन्वय – अयं (देहः) जनेः पूर्वम्, मृतेः अधि अपि अस्ति न । जातक्षणः, क्षणगुण; अनियत-स्वभावः, न एकः च जडः घटवत् परिदृश्यमान; भावविकार-वेत्ता स्व-आत्मा कथं भवति?

अर्थ – यह अन्नमय कोश (शरीर) जन्म के पूर्व और मृत्यु के बाद भी विद्यमान नहीं रहता । यह क्षणिक अस्तित्व वाला, क्षणिक गुणों वाला, सतत परिवर्तनशील स्वभाव वाला है; यह सर्वदा एकरूप नहीं रहता । यह जड़ है और घट के समान कुछ काल के लिये दीख पड़ता है । यह देहादि में होनेवाले परिणाम या परिवर्तनों का द्रष्टा-रूप आत्मा कैसे हो सकता है?

पाणिपादादिमान्देहो नात्मा व्यङ्गेऽपि जीवनात् ।
तत्तच्छक्तेरनाशाच्च न नियम्यो नियामकः।।१५६।।

अन्वय – वि-अङ्गे अपि जीवनात् पाणि-पादादिमान् देहः आत्मा न, तत् तत् शक्तेः अनाशात् च नियम्यः न, नियामकः ।

अर्थ – अंगहीन होने पर भी जीवित रहने से भी समझा जा सकता है कि हाथ-पाँवों से युक्त यह देह आत्मा नहीं है । किसी-किसी अंग का नाश होने पर भी, उस उस इन्द्रिय की शक्ति का नाश न होने से (सिद्ध होता है कि) आत्मा किसी नियम के अधीन नहीं, अपितु देह आदि का नियन्ता है ।

सरस्वती-वन्दना

– १ –

(केदार–रूपक)

माँ भारती ! माँ भारती !!
करुणामयी होकर जननि, तुम क्यों हमें न उबारती !!

बीती दुखद लम्बी निशा, नव रौशनी लेकर उषा,
मंगलमयी बेला में अब, तव पादपद्म पखारती ।।

यह देश क्यों उद्भ्रान्त है, क्यों मृत्यु-सम जड़-शान्त है,
तुम क्यों न पौरुष को जगा-कर आपदा से तारती ।।

यह पंचदीपक देह है, उर में उमड़ता स्नेह है,
मन-प्राण बाती को जला, होगी तुम्हारी आरती ।।

– २ –

(दरबारी-कान्हरा–कहरवा)

वाणी ब्रह्म-विहारिणी ।
ज्ञानालोक पसार हृदय में,
भ्रान्ति-अशान्ति निवारिणी ।।

श्वेत हंस पर चिर-आसीना,
शुभ्र वसन कर शोभे वीणा,
सुमधुर सुर-लहरी झंकृत कर,
चिदानन्द संचारिणी ।।

आया शरण न देख अन्य गति,
अब करुणा कर अम्ब सरस्वति,
शुद्ध विमल अति हो मेरी मति,
विषम भवोदधि-तारिणी ।।

मोह-शोक-अज्ञान मिटा दे,
उर में भक्ति-विवेक जगा दे,
हो 'विदेह' कृतकृत्य जनम यह,
सकल सुमंगल-कारिणी ।।

अग्निमयी उक्तियाँ

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

आज्ञा-पालन के गुण को अपनाओ, लेकिन अपने धर्मविश्वास को मत खोओ। बड़ों के अधीन हुए बिना शक्ति कभी-भी केन्द्रीभूत नहीं हो सकती और बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रीभूत किये बिना कोई महान् कार्य नहीं हो सकता। ... ईर्ष्या तथा अहंभाव को दूर करो। संगठित होकर दूसरों के लिये कार्य करना सीखो। हमारे देश में इसकी बहुत जरूरत है।[५३]

अनन्त धैर्य, अनन्त पवित्रता तथा अनन्त अध्यवसाय – ये ही सत्कार्य में सफलता के रहस्य हैं।[५४]

'अनेक जोगी मठ उजाड़'। भारत में जिस एक चीज का हममें अभाव है, वह है मेल तथा संगठन-शक्ति; और उसे प्राप्त करने का प्रधान उपाय है – आज्ञा-पालन।[५५]

वीरता से आगे बढ़ो। एक दिन या एक वर्ष में सफलता की आशा न रखो। उच्चतम आदर्श को पकड़े रहो। दृढ़ रहो। स्वार्थपरता और ईर्ष्या से बचो। आज्ञा-पालन करो। सत्य, मानवता और अपने देश के कार्य में सदा के लिये अटल रहो; और तुम संसार को हिला दोगे। याद रखो – व्यक्ति और उसका जीवन ही शक्ति का उद्गम है, अन्य कुछ भी नहीं।[५६]

चारों ओर से अन्धकार जितना ही बढ़ता है, उद्देश्य उतना ही निकट आता है; मनुष्य उतना ही अधिक जीवन का सही अर्थ समझने लगता है। तब लगता है कि यह जीवन एक स्वप्न है और हम समझने लगते हैं कि क्यों हर व्यक्ति इसका अनुभव करने में असफल रहता है – इसका कारण यह है कि वह एक अर्थहीन वस्तु का अर्थ निकालने का प्रयास करता है। ... सन्त यह जानकर कि 'प्रत्येक वस्तु क्षणिक है', 'प्रत्येक वस्तु परिवर्तनशील है' – सुख तथा दु:ख, दोनों का परित्याग कर देता है और किसी भी वस्तु के प्रति आसक्ति न रखकर इस विश्व-परिदृश्य का द्रष्टा मात्र बन जाता है।[५७]

न संख्या-बल, न धन, न पाण्डित्य, न वाक्चातुरी – कुछ भी नहीं; बल्कि पवित्रता, आदर्श जीवन, एक शब्द में – अनुभूति को ही सफलता मिलेगी! हर देश में दस-बारह सिंह जैसी शक्तिमान आत्माएँ होने दो, जिन्होंने अपने बन्धन तोड़ डाले हैं, जिन्होंने 'अनन्त' का स्पर्श कर लिया है, जिनका चित्त ब्रह्मानुसन्धान में लीन है और जो न धन की चिन्ता करते हैं, न बल की, न नाम की – ये लोग ही संसार को हिला डालने के लिये पर्याप्त होंगे।[५८]

आओ, हम नाम-यश तथा दूसरों पर शासन करने की इच्छा को छोड़कर काम करें। काम, क्रोध तथा लोभ – तीनों बन्धनों से मुक्त हो जायँ। तब सत्य हमारे साथ होगा।[५९]

बिना विघ्न-बाधाओं के क्या कभी कोई महान् कार्य हो सकता है? समय, धैर्य तथा अदम्य इच्छा-शक्ति से ही कार्य हुआ करता है। मैं तुम लोगों को ऐसी बहुत-सी बातें बताता, जिससे तुम्हारा हृदय उछल पड़ता, परन्तु मैं ऐसा नहीं करूँगा। मैं तो लोहे के समान दृढ़ इच्छा-शक्ति से सम्पन्न हृदय चाहता हूँ, जो कभी कम्पित न हो। दृढ़ता के साथ लगे रहो।[६०]

मैं कायरता से घृणा करता हूँ। कायरों तथा राजनीतिक मूर्खताओं से मैं कोई सम्बन्ध नहीं रखता। मुझे किसी भी प्रकार की राजनीति में विश्वास नहीं है। ईश्वर तथा सत्य ही जगत् में एकमात्र राजनीति है, बाकी सब कूड़ा-करकट है।[६१]

पवित्रता, दृढ़ता तथा उद्यम – ये तीनों ही गुण मैं एक साथ चाहता हूँ।[६२]

पवित्रता, धैर्य तथा प्रयत्न के द्वारा सारी बाधाएँ दूर हो जाती हैं। नि:सन्देह सभी महान् कार्य धीरे-धीरे ही होते हैं।[६३]

साहसी बनो और कार्य करो। धैर्य और दृढ़तापूर्वक कार्य – यही एकमात्र मार्ग है।[६४]

जो आज्ञा-पालन करना जानते हैं, वे ही आज्ञा देना भी जानते हैं। पहले आदेश-पालन सीखो। इन पाश्चात्य राष्ट्रों में जैसे स्वाधीनता का भाव प्रबल है, वैसे ही आदेश-पालन करने का भाव भी प्रबल है। हम सभी स्वयं को बड़ा समझते हैं, इसी से कोई काम नहीं बनता। महान् उद्यम, महान् साहस, महान् वीरता और सबसे पहले आज्ञापालन – ये ही गुण व्यक्तिगत अथवा राष्ट्रीय उन्नति के लिये एकमात्र उपाय हैं।[६५]

अपने देश में क्या मनुष्य भी हैं? यह तो श्मशान-सदृश है। यदि निम्न श्रेणी के लोगों को शिक्षा दे सको, तो कार्य हो सकता है। ज्ञान से बढ़कर दूसरा कौन-सा बल है? क्या तुम उन्हें शिक्षा दे सकते हो? बड़े लोगों ने किस देश में कभी किसी का उपकार किया है? सभी देशों में मध्यवर्गीय लोगों ने ही महान् कार्य किये हैं। रुपये मिलने में क्या देरी लगती है?

मनुष्य कहाँ हैं? क्या हमारे देश में एक भी मनुष्य है?[६६]

किसी को उसकी योजना में हतोत्साहित मत करो। निन्दा की प्रवृत्ति पूरी तौर से त्याग दो। जब तक देखो कि लोग सही मार्ग पर जा रहे हैं, तब तक उनके कार्य में सहायता करो; और जब कभी तुम्हें लगे कि वे गलत कर रहे हैं, तो नम्रतापूर्वक उन्हें उनकी गलतियाँ दिखा दो। एक-दूसरे की निन्दा ही सब दोषों की जड़ है। किसी भी संगठन के विनाश में इसका बहुत बड़ा हाथ है।[६७]

चालाकी से कोई महान् कार्य नहीं होता। प्रेम, सत्यानुराग और प्रचण्ड ऊर्जा के द्वारा ही सभी कार्य सम्पन्न होते हैं। **तत्कुरु पौरुषम्** – इसलिये पुरुषार्थ को प्रकट करो।[६८]

स्वयं कुछ न करना और यदि दूसरा कोई कुछ करना चाहे, तो उसकी हँसी उड़ाना – यही हमारी जाति का एक महान् दोष है और इसी से हम लोगों का सर्वनाश हुआ है। हृदयहीनता और उद्यम का अभाव ही सब दुःखों का मूल है, अतः इन दोनों को त्याग दो।[६९]

पीछे मुड़कर देखने की आवश्यकता नहीं है। आगे बढ़ो! हमें अनन्त शक्ति, अनन्त उत्साह, अनन्त साहस तथा अनन्त धैर्य चाहिये। केवल तभी महान् कार्य सम्पन्न होंगे।[७०]

जो सबका दास है, वही उनका सच्चा स्वामी है। जिसके प्रेम में ऊँच-नीच का विचार है, वह कभी नेता नहीं बन सकता। जिसके प्रेम में कोई सीमा नहीं, जो ऊँच-नीच सोचने के लिये कभी रुकता नहीं, उसके चरणों में सारा संसार लोट जाता है।[७१]

संसार के धर्म प्राणहीन उपहास की वस्तु हो गये हैं। जगत् को जिस चीज की जरूरत है, वह है चरित्र। संसार को ऐसे लोग चाहिये, जिनका जीवन स्वार्थहीन ज्वलन्त प्रेम का उदाहरण हो। वह प्रेम हर शब्द को वज्र के समान प्रभावी बना देगा।[७२]

तुम पवित्र और सर्वोपरि निष्ठावान बनो। एक मुहूर्त के लिये भी भगवान के प्रति अपनी आस्था न खोओ, इसी से तुम्हें प्रकाश दिखायी देगा। जो कुछ सत्य है, वही चिरस्थायी रहेगा; जो सत्य नहीं है, उसकी कोई भी रक्षा नहीं कर सकता।[७३]

मैं चाहता हूँ – लोहे की नसें और फौलाद के स्नायु, जिनके भीतर ऐसा मन वास करता हो, जो वज्र के समान पदार्थ का बना हो। बल, मनुष्यता, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज।[७४]

आनन्दपूर्वक रहो। अपने आदर्श में स्थिर रहो। ... कभी दूसरों को मार्ग दिखाने या उन पर हुक्म चलाने का प्रयत्न मत करना। ... शासन मत करो। सबके दास बने रहो।[७५]

पीठ पीछे किसी की निन्दा करना पाप है। इससे पूरी तरह बचकर रहना चाहिये। मन में कई बातें आती हैं, परन्तु उन्हें प्रगट करने से तिल का ताड़ बन जाता है। यदि क्षमा कर दो और भूल जाओ, तो उन बातों का अन्त हो जाता है।[७६]

एक और सत्य जिसका मैंने अनुभव किया है, वह यह है कि निःस्वार्थ सेवा ही धर्म है और बाह्य विधि-अनुष्ठान आदि केवल पागलपन हैं। यहाँ तक कि अपनी मुक्ति की अभिलाषा करना भी अनुचित है। मुक्ति केवल उसके लिये है, जो दूसरों के लिये सर्वस्व त्याग देता है; परन्तु जो लोग दिन-रात 'मेरी मुक्ति, मेरी मुक्ति' की रट लगाये रहते हैं, वे अपने इहलोक तथा परलोक के सच्चे कल्याण को नष्ट करके इधर-उधर भटकते रह जाते हैं।[७७]

परोपकार धर्म है; परपीड़न पाप। शक्ति तथा पौरुष पुण्य है; दुर्बलता तथा कायरता पाप। स्वतंत्रता पुण्य है, पराधीनता पाप। दूसरों से प्रेम करना पुण्य है, दूसरों से घृणा करना पाप। परमात्मा में और स्वयं में विश्वास करना पुण्य है, सन्देह करना पाप। एकता का ज्ञान पुण्य है, अनेकता देखना पाप।[७८]

डटे रहो, मेरे बहादुर बच्चो। हमने अभी शुरुआत भर की है। निराश मत होना! कभी मत कहना – बहुत हुआ।[७९]

मैं जितना उन्नत बन सका, मैं चाहता हूँ कि मेरे सब बच्चे उससे सौ गुना उन्नत बनें। तुम लोगों में से प्रत्येक को खूब शक्तिशाली बनना होगा। मैं कहता हूँ – अवश्य बनना होगा। आज्ञा-पालन, आलस्यहीनता और ध्येय के प्रति अनुराग – ये तीनों रहें, तो कोई भी तुम्हें अपने मार्ग से डिगा नहीं सकता।[८०]

रुपये आदि सब कुछ अपने आप आते रहेंगे। रुपये नहीं, मनुष्य चाहिये। मनुष्य सब कुछ कर सकता है। रुपये क्या कर सकते हैं? मनुष्य चाहिये – जितने मिलें, उतना ही अच्छा।[८१]

जगत् की सारी धनराशि की अपेक्षा 'मनुष्य' कहीं अधिक मूल्यवान है।[८२]

वत्स, प्रेम कभी निष्फल नहीं होता। आज या कल या फिर युगों के बाद – परन्तु सत्य की विजय अवश्य होगी। प्रेम की विजय अवश्य होगी। क्या तुम अपने भाई, मनुष्य-जाति से प्रेम करते हो? तो फिर ईश्वर को ढूँढ़ने कहाँ चले – क्या ये गरीब, दुखी, दुर्बल लोग ईश्वर नहीं हैं? पहले इन्हीं की पूजा क्यों नहीं करते? गंगा-तट पर कुँआ खोदने क्यों जाते हो? प्रेम की सर्व-शक्तिमत्ता में विश्वास करो। इस झूठे चकाचौंध वाले नाम-यश की परवाह कौन करता है? समाचार-पत्रों में क्या छपता है, इसकी मैं कभी खबर नहीं लेता। क्या तुम्हारे पास प्रेम है? तो फिर तुम सर्व-शक्तिमान हो। क्या तुम पूर्णतः निःस्वार्थ हो? यदि हो, तो फिर तुम्हें कौन रोक सकता है? चरित्र की ही सर्वत्र विजय होती है। प्रभु ही समुद्र के तल में भी अपनी सन्तानों की रक्षा करते हैं। तुम्हारे देश के लिये वीरों की आवश्यकता है। वीर बनो।[८३]

मृत्युपर्यन्त काम करो – मैं तुम्हारे साथ हूँ और जब मैं नहीं रहूँगा, तब मेरी आत्मा तुम्हारे साथ काम करेगी।[८४]

सन्दर्भ-सूची –

(अगले पृष्ठ पर)
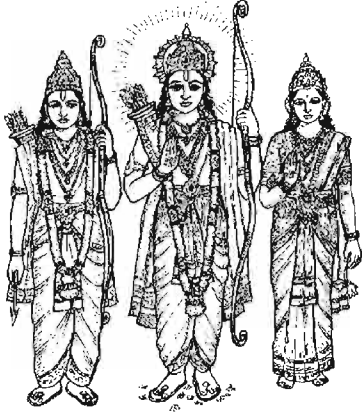
नाम की महिमा (९/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

मानव-स्वभाव की भिन्नता और योग्यता को दृष्टि में रख कर शास्त्रों तथा सन्त-महापुरुषों ने विभिन्न प्रकार की साधना-पद्धतियों का उपदेश दिया है। ये सभी पद्धतियाँ किसी-न-किसी व्यक्ति के लिए उपयोगी हैं। गोस्वामीजी का प्रारम्भिक जीवन निर्धनता तथा अभाव से ग्रस्त था। जिस दिव्य साधना के द्वारा उन्होंने जीवन में धन्यता प्राप्त की, उसके विषय में वे कहते हैं – गुरुदेव ने मुझे भगवान श्रीराम के नाम का उपदेश दिया और वही मुझे राजमार्ग जैसा प्रतीत हो रहा है –

बहु मत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ-तहाँ झगरो सो ।
गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहिं लगत राजडगरो सो ।।
विनय-प. १७३/५

जहाँ उन्होंने प्रभु तथा रामायण के अधिकांश पात्रों की वन्दना की है, वहीं नौ दोहों में भगवान के नाम की वन्दना भी की है। वे कहते हैं कि यह नाम-साधना हर युग के लिए उपयोगी रही है, पर इस कलियुग में तो नाम ही सबसे बड़ा साधन है। इस साधना से व्यक्ति धन्यता प्राप्त कर सकता है। वे कहते हैं कि कभी-कभी तो एक साधना और दूसरी साधना में विरोध जैसा प्रतीत होता है, पर नाम-साधना की विलक्षणता यह है कि यह स्वतंत्र रूप से भी उपयोगी है और अन्य साधनों के साथ भी हितकर है। इसे उन्होंने अनेक दृष्टान्तों के द्वारा प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं कि विभिन्न प्रकार के साधक स्वयं इस बात का निर्णय करें या गुरु से आदेश प्राप्त करें कि नाम-साधना के लिये उनके लिए कौन-सी पद्धति उपयुक्त है – नाम-जप, नाम-चिन्तन या नाम का मनन। इसके लिए उन्होंने अनेक युक्तियों का आश्रय लिया है, अनेक पात्रों का नाम लिया है, पर इसका सूत्र मुख्य रूप से यही है कि विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों ने भगवान के नाम की महिमा का अनुभव किया। उनमें सकाम लोग भी थे, निष्काम भी थे, ज्ञानी भी थे, भक्त भी थे और कर्मयोगी भी थे। उन्होंने कुछ नाम गिनाये हैं, जो बड़े सांकेतिक हैं। प्रारम्भिक दोहों में उन्होंने गणेशजी, वाल्मीकिजी और भगवान शंकर का स्मरण किया। ये जो नाम गिनाये गये, आपने इनके जीवन की पृष्ठभूमि पर ध्यान दिया होगा, उसमें भिन्नता देखी होगी। भगवान शंकर विश्वास के देवता हैं, मूर्तिमान विश्वास! और गणेशजी महाराज साक्षात् विवेक हैं। किन्तु वाल्मीकिजी के चरित्र की पृष्ठभूमि यह थी कि अपने प्रारम्भिक चरित्र में, न तो ये भक्त हैं और न ज्ञानी। उनके चरित्र में तो विवेक के स्थान पर इतनी अल्पज्ञता दिखाई देती है कि वैसा अल्पज्ञ व्यक्ति आज भी ढूँढ़ना कठिन हो जायेगा। जिनकी वृत्ति इतनी हिंस्र थी, दोषयुक्त थी, वे भी नाम के द्वारा धन्य हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि नाम-साधना में विश्वास का बड़ा महत्त्व है। व्यक्ति के अन्त:करण में जितना प्रगाढ़ विश्वास होगा, उसे नाम की महिमा का उतना ही अधिक अनुभव होगा। इसलिए अन्य पात्रों की तुलना में भगवान शंकर के सन्दर्भ में एक शब्द और बढ़ाया गया – भगवान शंकर नाम का प्रभाव भलीभाँति जानते हैं। इसका प्रमाण भी देते हैं – इसी कारण कालकूट विष ने उन्हें अमृत का फल दिया –

नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फलु दीन्ह अमी को ।। १/१९/८

जो विष में भी अमृतत्व का साक्षात्कार करे, उससे बड़ा विश्वासी कौन होगा? भगवान अमृत दें, तो भला कौन पीने के लिए व्यग्र नहीं हो जायेगा? भगवान से अमृत की याचना

पिछले पृष्ठ का शेषांश

५३. वही, खण्ड ४, पृ. २८०; **५४.** वही, खण्ड ४, पृ. २८६; **५५.** वही, खण्ड ४, पृ. ३९५; **५६.** वही, खण्ड ४, पृ. ३९५; **५७.** वही, खण्ड ४, पृ. २९७; **५८.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३६; **५९.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३८; **६०.** वही, खण्ड ४, पृ. ३३९-४०; **६१.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४६; **६२.** वही, खण्ड ४, पृ. ३४७; **६३.** वही, खण्ड ४, पृ. ३५१; **६४.** वही, खण्ड ४, पृ. ३५६; **६५.** वही, खण्ड ४, पृ. ३६०; **६६.** वही, खण्ड ४, पृ. ३१५; **६७.** वही, खण्ड ४, पृ. ३१५; **६८.** वही, खण्ड ४, पृ. ३१७; **६९.** वही, खण्ड ४, पृ. ३८०; **७०.** वही, खण्ड ५, पृ. ४०३; **७१.** वही, खण्ड ४, पृ. ४०२-०३; **७२.** वही, खण्ड ४, पृ. ४०८; **७३.** वही, खण्ड ५, पृ. ३७१; **७४.** वही, खण्ड ५, पृ. ३९८; **७५.** वही, खण्ड ३, पृ. ३९०; **७६.** वही, खण्ड ३, पृ. ३९१; **७७.** वही, खण्ड ६, पृ. ३२७; **७८.** वही, खण्ड १०, पृ. २२२; **७९.** वही, खण्ड ५, पृ. ४००; **८०.** वही, खण्ड ६, पृ. ३५२; **८१.** वही, खण्ड ६, पृ. ३६४; **८२.** वही, खण्ड – ४, पृ. २८६; **८३.** वही, खण्ड ३, पृ. ३२३; **८४.** वही, खण्ड ५, पृ.

करनेवाले अगणित व्यक्ति हैं। सभी देवता और दैत्य अमृत ही पाना चाहते थे। परन्तु भगवान यदि विष भी दें, दु:ख भेज दें, पीड़ा भेज दें, कोई प्रतिकूल परिस्थिति भेज दें, तो कितने व्यक्ति ऐसे मिलेंगे, जो उस विष को पीने के लिए प्रस्तुत हों? वस्तुत: भगवान शंकर विश्वास के घनीभूत रूप हैं, जिन्होंने विष को ग्रहण किया और वे यह सोचकर गद्‌गद हो गये कि इसे तो हमारे प्रभु ने भेजा है! इतना ही नहीं, इसका तात्त्विक पक्ष भी है – शंकरजी महानतम विश्वासी तो हैं ही, पर वे नाम के तत्त्व को भी भलाभाँति जानते हैं।

ऐसी स्थिति की कल्पना कीजिए कि जब कुछ नहीं था और सृष्टि बनी, तो उसके निर्माण में कौन-सा क्रम रहा होगा? पुराणों में और सर्वत्र मिलता है कि संसार पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु – इन पाँच तत्त्वों से मिलकर बना है –

छिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित अति अधम सरीरा ।। ४/११/४

अब आप अपने अन्तर्मन में उस स्थिति की ओर दृष्टि डालिए कि जब कुछ नहीं था, जब शून्य था। सबसे पहले आकाश हुआ और उस निराकार आकाश में सबसे पहले रूप का नहीं, बल्कि सबसे पहले शब्द का ही प्रादुर्भाव होगा। क्योंकि हमारे न्यायशास्त्र की मान्यता यह है – आकाश का गुण शब्द है – **शब्द गुणकम् आकाशम्**।

साधारणतया हम अपने घरों में यह देखने के अभ्यस्त हैं कि पहले बालक का रूप सामने आता है और उसके बाद शब्द सुनाई देता है। लेकिन यह तो हमारे जीवन की प्रक्रिया है। परन्तु सृष्टि-निर्माण प्रक्रिया में पहले रूप हो ही नहीं सकता। जब भी होगा, शब्द ही पहले होगा।

हमारे यहाँ जप के पहले भूतशुद्धि की प्रक्रिया है, जिसमें हम एक तत्त्व को दूसरे तत्त्व में विलीन करते हुए अन्त में उस सूक्ष्मतम स्तर पर पहुँचते हैं। मनु के प्रसंग में भी यही संकेत मिलता है। महाराज मनु भी मंत्रजप के महान् साधक हैं। उनकी मंत्र-साधना के समय भी जब तक रूप सामने आया, तब तक उनके अन्त:करण में उसके प्रति सुदृढ़ धारणा, सुदृढ़ श्रद्धा नहीं बनी। विभिन्न देवताओं के रूप सामने आते हैं; वे सब भगवान के ही विभिन्न रूप हैं, परन्तु मनु उनकी ओर आकृष्ट नहीं होते, क्योंकि मनु के अन्त:करण में यह धारणा है कि ब्रह्म निर्गुण-निराकार है। वे जिस पद्धति से जिस मंत्र का जप करते हैं, उसमें इसी ओर संकेत है। बड़ा विलक्षण संकेत है। उन्होंने प्रारम्भ में ही संकल्प किया कि मैं जानता हूँ कि ब्रह्म अगुण, अखण्ड, अनन्त और अनादि है। वेदों ने इसी रूप में उनका वर्णन किया है; लेकिन मैं समझता हूँ कि ऐसा ब्रह्म भी भक्तों की भावना को पूर्ण करने के लिए सगुण बन जाता है –

अगुन अखंड अनंत अनादी ।
जेहि चिंतहिं परमारथबादी ।।
नेति नेति जेहि बेद निरूपा ।
निजानंद निरुपाधि अनूपा ।।
ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई ।
भगत हेतु लीलातनु गहई ।। १/१४४/४-५,७

उनकी मान्यता है कि ब्रह्म निर्गुण-निराकार है, पर भक्त की भावना को पूर्ण करने हेतु वह सगुण-साकार बनता है। इसीलिए उन्होंने जो मंत्र चुना, वह बड़ा सांकेतिक है – वे बारह अक्षर के द्वादशाक्षर मंत्र का जप करते हैं –

द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग ।

वह द्वादश-अक्षर मंत्र है – **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय।** इस मंत्र के चुनाव में कई लोगों को बड़ा भ्रम हो जाता है। साधारणतया लोगों की धारणा है कि यह भगवान कृष्ण का मंत्र है। उन लोगों को लगता है कि मनु राम के भक्त होकर कृष्ण-मंत्र का जप करें, यह तो सम्भव ही नहीं हो सकता। सम्प्रदाय के अनेक गुण होते हैं, परन्तु उसमें आग्रह की एक समस्या भी होती है। सम्प्रदाय की प्राय: जैसी प्रवृत्ति होती है, अयोध्या में सन्तों को द्वादश-अक्षर मंत्र के विषय में बड़ा आश्चर्य है और उन्होंने उसका अर्थ बदलने की चेष्टा की। वे बोले – द्वादश-अक्षर मंत्र – **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय** नहीं है; बल्कि छह अक्षर का श्रीराम-मंत्र है – **राम रामाय नमः** और छ: अक्षर का सीताजी का मंत्र है – **श्री सीतायै नमः**। दोनों को मिलाकर उन्होंने द्वादश-अक्षर मंत्र जपा।

एक बार मैं अयोध्या गया, तो मैंने भी यह विवाद सुना। मैं खण्डन नहीं करना चाहता था, पर मैंने उनसे पूछा – क्या यह अर्थ आपको सही प्रतीत होता है? उन्होंने कहा – यह तो बिलकुल ठीक है। मैंने कहा – आग्रह के कारण आपको ऐसा अर्थ दिखाई देता है, क्योंकि उसी दोहे में द्वादशाक्षर मंत्र के देवता का वर्णन भी कर दिया गया है। – क्या?

बासुदेव पद पंकरुह ... ... ।। १/१४३

मैंने कहा – यह तो स्पष्ट ही वासुदेव नाम ही ले रहे हैं। तो **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय** में वासुदेव है। वासुदेव शब्द रामायण में बहुत प्रचलित नहीं है, पर गोस्वामीजी यहाँ पर 'वासुदेव' शब्द का प्रयोग करते हैं। वस्तुत: द्वादशाक्षर मंत्र के विषय में श्रीकृष्ण का मंत्र होने का भ्रम इसलिये हो गया कि श्रीकृष्ण के अनेक नामों में 'वासुदेव' भी उनका एक नाम है। वस्तुत: **ॐ नमो भगवते वासुदेवाय** में 'वासुदेव' का तात्त्विक अर्थ है – **वासे वासे तिष्ठति** – जो संसार के कण-कण में व्याप्त है, वही वासुदेव है। उन्होंने जो द्वादशाक्षर मंत्र ग्रहण किया, वह राममंत्र या कृष्णमंत्र या कोई रूपात्मक मंत्र नहीं है। उसकी मूल धारणा यह है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है। उन्हें जिन्होंने भी मंत्र दिया होगा, उन्होंने मनु के संस्कार के अनुकूल ही दिया होगा। वह श्रीकृष्ण या श्रीराम का मंत्र

नहीं था। आगे चलकर उनकी जो साधना प्रारम्भ होती है, उसमें साधना की दृष्टि से बहुत ही उपयोगी सूत्र आते हैं –

बिधि हरि हर तप देखि अपारा ।
मनु समीप आए बहु बारा ।। १/१४५/२

उनका अपार तप देखकर ब्रह्म आते हैं, विष्णु आते हैं, शंकर आते हैं, परन्तु मनु उनसे वरदान माँगना स्वीकार नहीं करते। यहाँ पर रूप पहले आया – ब्रह्मा आकर खड़े हुए और कहा – माँगो। – नहीं नहीं, मैं आपसे नहीं माँग सकूँगा। विष्णु भगवान से भी नहीं माँगते। – कब माँगते हैं? – जब श्रीराम का रूप सामने आया। और यह श्रीराम रूप तुरन्त उनके सामने नहीं आ गया। ऐसा नहीं है कि ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के बाद श्रीराम और सीताजी उनके सामने आ गये हों और आकर कहा हो – दर्शन कीजिए और वरदान माँगिये। मनु की जो मूल धारणा है, वह तो निर्गुण-निराकार से जुड़ी हुई है। निर्गुण निराकार में नाम की एक विलक्षणता यह भी है कि आप निषेध भले ही करते हों, पर अन्तोगत्वा जब आप ब्रह्म के सम्बन्ध में कहेंगे, तो उसका एक नाम रखे बिना नहीं कह सकते। तात्पर्य यह कि मंत्र में शब्द है और निराकार सबसे पहले शब्द के रूप में अभिव्यक्त होता है। उसी ओर संकेत है। इसीलिए मनु के प्रसंग में – पहले रूप और बाद में शब्द आया, तो मनु ने स्वीकार नहीं किया। परन्तु बाद में, शब्द पहले और रूप बाद में आया। पहले मनु को एक शब्द सुनाई पड़ा – आकाशवाणी के रूप में स्वर सुनाई पड़ा। और वह शब्द था – माँगो माँगो, क्या वरदान चाहते हो?

मागु मागु बरु भै नभ बानी ।। १/१४४/६

यह वाक्य सामने आकर भी तो कह सकते थे। पर वैसा न करने का क्या अभिप्राय है? यही कि जब तुमने रूप का आश्रय नहीं लिया, मंत्र का आश्रय लिया, तो तुम्हारी धारणा के अनुकूल सबसे पहले मैं तुम्हारे सामने शब्द के रूप में प्रगट होता हूँ। शब्द के द्वारा प्रगट होने के बाद आकाशवाणी में प्रश्न किया जाता है – आप क्या चाहते हैं? तब वे कहते हैं – मैं आपका रूप देखना चाहता हूँ। इसमें एक क्रम है। आकाशवाणी में मानो यह प्रश्न किया जाता है कि यदि आप अरूप का रूप देखना चाहते हैं, तो आपको ही बताना पड़ेगा कि उसे आप किस रूप में देखना चाहते हैं। इसमें यह संकेत आता है कि निराकार ब्रह्म तब तक रूप में उनके सामने नहीं आया, जब तक उन्होंने स्वयं रूप का चुनाव नहीं किया। अन्तिम क्षण में – शब्द हो रहा है भगवान के द्वारा आकाश में और मनु प्रार्थना कर रहे हैं – आपका जो रूप शिवजी के मन में बसता है, जिसकी प्राप्ति हेतु मुनि लोग चेष्टा करते हैं, जो काकभुशुण्डि के मनरूपी मानसरोवर में विहार करनेवाला हंस है, जिसकी सगुण और निर्गुण कहकर वेद प्रशंसा करते हैं, हे शरणागत के दु:ख हरनेवाले प्रभो ! ऐसी कृपा कीजिए कि हम उसी रूप को नेत्र भरकर देखें –

जो सरूप बस सिव मन माहीं ।
जेहिं कारन मुनि जतन कराहीं ।।
जो भुसुंडि मन मानस हंसा ।
सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा ।।
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन ।
कृपा करहु प्रनतारति मोचन ।। १/१४६/४-६

पहले शब्द प्रकट हुआ और उसके बाद करोड़ों कामदेवों को भी लज्जित कर देनेवाले भगवान के नीलकमल, नीलमणि और नीलमेघ के समान श्याम रूप का दर्शन होता है –

नील सरोरुह नील मनि
नील नीरधर स्याम ।
लाजहिं तन सोभा निरखि
कोटि कोटि सत काम ।। १/१४६

यहाँ शब्द वही दिया गया, जो मंत्र के अर्थ से जुड़ा हुआ है – विश्ववास – वे ही भगवान प्रकट हो गये, जो समस्त विश्व में व्याप्त हैं –

भगत बछल प्रभु कृपानिधाना ।
बिस्वबास प्रगटे भगवाना ।। १/१४६/८

वासुदेव का अर्थ है – विश्ववास – जो सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त है। मनु की भावना की तृप्ति के लिए विश्ववास ब्रह्म श्रीराम और श्रीसीता के रूप में प्रगट होता है और वे वरदान माँगकर धन्य होते हैं। यह निर्गुण-निराकार को सगुण-साकार बनाने की पद्धति है। ब्रह्म स्वयं अपनी दृष्टि से निर्गुण है, पर भक्त उसको सगुण साकार बनाना चाहता है। निराकार में रूप नहीं है, तो प्रारम्भ में भले ही रूप का आश्रय न लिया जाय, परन्तु नाम का आश्रय तो लेना ही पड़ता है।

बंदउँ नाम राम रघुबर को ।
हेतु कृसानु भानु हिमकर को ।। १/१९/१

– मैं रघुनाथजी के 'राम' नाम की वन्दना करता हूँ, जो 'र' 'आ' और 'म' रूप से कृशानु (अग्नि), सूर्य और चन्द्रमा के बीज हैं। सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि – इन तीनों के स्वभाव अलग-अलग हैं – परन्तु सूर्य भी जहाँ से जन्म लेता है, चन्द्रमा भी जहाँ से जन्म लेता है और अग्नि भी जहाँ से जन्म लेती है, वह है – रामनाम। भगवान शिव विष पीते हैं और देवताओं को देखकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने इसे शंकरजी का चमत्कार समझा कि वे विष पिये और मरे नहीं। पर शंकरजी इसको अपनी नहीं, बल्कि नाम की विशेषता मानते है –

नाम प्रभाउ जान सिव नीको।
कालकूट फलु दीन्ह अमी को ।। १/१९/८

यदि आपका अन्त:करण विश्वास से परिपूर्ण है, तो विचार करके देखिए कि जिस नाम को हम सरलता से दो अक्षर मात्र

मान बैठे हैं, यह मूलत: ब्रह्म की अभिव्यक्ति है। ब्रह्मतत्त्व की प्रथम अभिव्यक्ति शब्द के रूप में ही होती है।

शंकरजी तो सबसे बड़े जाननेवाले हैं, वे तो विष पीकर रामनाम प्रभाव दिखा देते हैं। परन्तु गणेशजी बुद्धि-प्रधान हैं, विवेक-प्रधान हैं। नाम के सन्दर्भ में दूसरा सूत्र आता है – इसकी महिमा गणेशजी जानते हैं, जो इस 'राम' नाम के प्रभाव से ही सबसे पहले पूजे जाते हैं –

महिमा जासु जान गनराऊ।
प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ ।। १/१९/४

हर देवता के मन में प्रथम-पूज्य बनने की इच्छा है। संसार में जितने सद्गुण हैं, वे ही देवता हैं। किस सद्गुण को सबसे अधिक महत्त्व दिया जाय? जीवन में हम सबसे पहले किसकी पूजा करें? भगवान शंकर परीक्षक चुने गये। उन्होंने परीक्षा के लिए एक कसौटी बना दी। बोले – जो सबसे पहले ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके लौट आयेगा, वही प्रथम-पूज्य होगा।

सुनते ही भगदड़ मच गयी। सारे देवता अपने-अपने वाहनों पर बैठकर ब्रह्माण्ड की परिक्रमा के लिए चल पड़े। उनमें से गणेशजी के वाहन से तो आप परिचित ही हैं। उनके वाहन में न तो पक्षी-जैसी उड़ान है और न तीव्र गति है। वे मूसक-वाहन हैं। उनका सबसे धीमी गतिवाला विचित्र वाहन है। जो विवेकी होता है, उसकी गति तीव्र नहीं हुआ करती, जरा सोच-समझकर चलता है न! जो बिना सोचे-समझे चलते हैं, उनकी गति में जितनी तीव्रता होती है, बुद्धि का उपयोग करनेवाले में उतनी नहीं होती। वे जरा सोच समझकर ही पैर उठाते हैं। गणेशजी लम्बोदर भी हैं, क्योंकि समस्त ज्ञान को धारण किए हुए हैं।

गणेशजी स्वयं शरीर से स्थूल, सब कुछ धारण किए हुए और मूसक-वाहन! देवताओं की स्त्रियाँ देखती हैं, तो हँसती हैं – अरे, चूहे पर बैठकर ये भी चल पड़े! अन्य देवता जब न जाने कितने आगे निकल गये, तब तक गणेशजी कुछ ही दूर चल पाये थे। और इस दृश्य का आनन्द लेने के लिए नारदजी ने ठीक उलटी परिक्रमा आरम्भ की और जो देवता अपने वाहन पर बैठकर जा रहा है, जब देखता है कि सामने से वीणा बजाते नारदजी आ रहे हैं, तो सोचता है – "बड़ा संकट है, रुककर प्रणाम करें, तो वे आशीर्वाद तो देंगे, परन्तु कहीं ये सत्संग न छेड़ दें? तब तो इतनी देर में हम न जाने कितने पिछड़ जायेंगे?" संसार में कई लोग, जो कर्म परायण हैं, वे सोचते हैं कि जितनी देर में कथा-सत्संग सुनेंगे, उतनी देर में तो न जाने कितने कार्य निपटा लेंगे, कितना आगे बढ़ जायेंगे! सत्संग कौन सुनें!

लेकिन नारदजी की उपेक्षा भी ठीक नहीं। अत: देवता पहले से ही सिर घुमा लेते थे कि बाद में नारद से कह सकें – "हमने तो देखा ही नहीं कि आप आ रहे थे? मेरी तो दृष्टि ही नहीं पड़ी।" नारदजी मुस्कुरा रहे हैं कि हर देवता उनकी ओर से दृष्टि हटाकर, उपेक्षा करते हुए चला जा रहा है।

नारदजी जब आगे बढ़े, तो देखा – सबसे पीछे गणेशजी चले आ रहे हैं। गणेशजी ने नारदजी को देखा, तो दूर से ही अपने वाहन से उतर गये। नारदजी के चरणों में प्रणाम किया। नारदजी मुस्कुराकर बोले – "कहते हैं कि आप बुद्धि के देवता हैं, तो मैंने सोचा कि आपको गणित का भी ज्ञान होगा। आपने यदि हिसाब कर लिया होता कि इस पूरे ब्रह्माण्ड की क्या माप है, यह कितना लम्बा-चौड़ा है और आपके चूहे की गति कितनी है, तो आप व्यर्थ ही यह परिश्रम न करते।" गणेशजी के उत्तर से पता चल गया कि विवेक का देवता कैसा होना चाहिए। उन्होंने कहा – "महाराज, बहुत बुद्धिमान या गणितज्ञ हो जाने का अर्थ निष्क्रिय हो जाना नहीं है।"

यह एक बड़े महत्त्व का सूत्र है। बहुत गतिशील होना – यह भी एक गुण है, पर विचारशून्य गतिशीलता किसी काम की नहीं। दूसरी ओर यदि कोई इतना विचार करे कि विचार ही करता रह जाय, गणित ही लगाता रह जाय, कभी सक्रिय होने की चेष्टा ही न करे, तो ऐसा व्यक्ति भी किसी काम का नहीं। वस्तुत: गणेशजी में कर्म और ज्ञान – दोनों की पूर्णता है। वे बोले – "महाराज, मैं जानता हूँ कि ब्रह्माण्ड कितना बड़ा है, मेरी गति कितनी है और यह परिक्रमा की प्रतियोगिता है। सब कुछ ठीक है। परन्तु मैंने सोचा कि यह तो एक अवसर मिला है। इसी बहाने ब्रह्माण्ड का भ्रमण होगा, तीर्थों का दर्शन होगा, सन्तों का दर्शन होगा; और देखिए फल भी मिल गया, आप जैसे सन्त का दर्शन हो गया।"

गणेशजी ने एक बहुत बढ़िया बात कही। बोले – महाराज, "फिर तो ये जितने लोग दौड़े हैं, वे सब बेकार दौड़े हैं।" – क्यों? बोले – "प्रथम तो इनमें से एक ही आयेगा न! तो यदि गणित करके सब रुक जाते, सब मिलकर हिसाब-किताब लगा लेते कि किसका वाहन कितनी गति से चलेगा और कौन सबसे पहले पहुँचेगा! महाराज, पूजा तो एक की ही होनी है। लेकिन परिक्रमा का अर्थ केवल पूजा पाना ही तो नहीं है। परिक्रमा के अनेक लाभ हैं।"

नारदजी प्रसन्न हो गये। उन्होंने गणेशजी के विवेक के अनुकूल एक सूत्र दिया। वे बोले – "देखिये, ब्रह्माण्ड का अर्थ क्या है? इसके मूल में कौन है? इन देवताओं ने गलत अर्थ ले लिया है कि जो स्थूल रूप से दिखाई दे रहा है, वही ब्रह्माण्ड है। आप मेरी बात मानिये, ब्रह्माण्ड का जन्म शब्द से हुआ है और वह शब्द है 'राम'। आप पृथ्वी पर 'राम' लिखिये, उसकी परिक्रमा कीजिये और लौटकर शंकरजी से कहिये कि ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके आ गया।"

गणेशजी प्रसन्न हो गये। नारदजी ने अन्य देवताओं को क्यों नहीं बताया? पहली बात तो यह कि कोई सुनना ही

नहीं चाहता था; और यदि वे किसी देवता को बताने की भूल करते, तो शायद उसको यही सन्देह होता – ''अन्य देवताओं ने षड्यंत्र करके इन्हें भेजा है, ताकि इनके चक्कर में यह प्रतियोगिता से बाहर हो जाय। भला इस तरह से पृथ्वी पर 'राम' लिखकर परिक्रमा करने से क्या ब्रह्माण्ड की परिक्रमा हो जायेगी? कैसी बचकानी बात है !''

सन्त की, नारदजी की बातें सुनने और समझने के लिए विवेक भी तो चाहिए। गुरु ने शिष्यों को आदेश दिया – ''वट ले आओ, बरगद ले आओ।'' कुछ चेले फावड़ा और कुल्हाड़ी लेकर वट-वृक्ष के पास गये और उसे उखाड़ने लगे। परन्तु उनका एक अन्य शिष्य भी था। उसके हाथ में न फावड़ा, न कुल्हाड़ी, बस, खाली हाथ चला आ रहा था। गुरुजी ने पूछा – तुम लौट आये? – हाँ गुरुदेव, मैंने आपके आदेश का पालन किया; बरगद को ले आया। बोले – कहाँ है? शिष्य ने कहा – मेरी मुट्ठी में। सुननेवालों को लगा क्या गपोड़ेबाजी है, बरगद मुट्ठी में है ! परन्तु गुरुजी ने कहा – अच्छा, बरगद को दिखाओ तो? शिष्य ने हाथ खोला – उसमें बरगद का बीज था। गुरुदेव ने कहा – सच्चे अर्थों में, मेरे वाक्य का अर्थ तुम्हीं ने ग्रहण किया। वृक्ष बीज में ही समाया हुआ है और व्यक्ति यदि वृक्ष को उठाकर लाने की चेष्टा करे, तो वह प्राय: असम्भव-सा कार्य होगा। परन्तु यदि वह चाहे, तो जिस बीज से वृक्ष का सृजन होता है, उसको ग्रहण कर ले, ब्रह्माण्ड के मूल-तत्त्व 'राम-नाम' को ग्रहण कर ले। सचमुच गणेशजी विवेकी हैं। अन्य देवताओं ने ब्रह्माण्ड का अर्थ उसका भौगोलिक विस्तार लिया। और गणेशजी ने सत्संग के द्वारा उसका मूल-तत्त्व जान लिया – जिसने ही, जब भी, जहाँ भी, जिस चेष्टा से भी बुद्धि, कीर्ति, सद्गति, विभूति और भलाई पाई है, उन सब को सत्संग का ही प्रभाव समझना चाहिए –

मति कीरति गति भूति भलाई ।
जब जेहिं जतन जहाँ जेहिं पाई ।।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ ।
लोकहुँ बेद न आन उपाऊ ।। १/२/६-७

सत्संग के द्वारा जिनमें विवेक प्रबुद्ध था, उनको यह बोध हो गया – हाँ, ये बिलकुल ठीक कहते हैं। गणेशजी ने तुरन्त उस नाम की परिक्रमा की और लौटकर शंकरजी के पास आये। शंकरजी ने मुस्कुराकर पूछा – क्या बीच से ही लौट आये? उन्होंने कहा – नहीं, मैं तो ब्रह्माण्ड की परिक्रमा करके आ गया। – कैसे? उन्होंने नारदजी के सत्संग की बात दुहराई। शंकरजी ने गद्गद होकर गणेशजी को हृदय से लगा लिया। बोले – ''वैसे तो तुम मेरे पुत्र हो ही, पर आज तुमने जिस विश्वास का परिचय दिया है, इससे तुम मेरे परम निकट हो गये। जिस रामनाम में मेरी अविचल आस्था है, वह सचमुच मूल-तत्त्व है, ब्रह्माण्ड का सृजन करनेवाला है, तुमने उसकी परिक्रमा की, अत: तुम्हीं प्रथम-पूज्य हो।

उनकी प्रथम पूजा हुई। पर इसको पढ़कर व्यक्ति घबरा भी सकता है कि भइ अगर गणेशजी जैसा विवेक हम में न हो, शंकरजी जैसा विश्वास हममें न हो, तो शायद नाम हमारे लिए उपयोगी नहीं है। ऐसी बात नहीं है।

अब इसका दूसरा पक्ष लेते हैं। वाल्मीकि प्रारम्भ में, न विवेकी थे, न विश्वासी थे और न ही उच्च चरित्रवाले थे। आप उनके चरित्र की कथा से परिचित हैं। वे हिंसा-प्रधान स्वभाव के डाका डालनेवाले व्यक्ति थे। एक दिन उन्होंने वन में जाते हुए मुनियों को भी लूट लेने के लिए रोका। मुनियों के हृदय में दया आई और उन्होंने वाल्मीकि से पूछा। यह प्रश्न मुनियों का केवल वाल्मीकि से नहीं है, बल्कि प्रत्येक बुरा कार्य करनेवाले से है – ''यह जो कार्य तुम कर रहे हो, क्या तुम इसका परिणाम जानते हो? इस कर्म का जो फल होगा, वह किसे भोगना पड़ेगा?'' यह प्रश्न उन्होंने कर्म-सिद्धान्त के आधार पर उठाया। वाल्मीकि पहले तो सोचते थे कि जिन लोगों के लिए मैं कर रहा हूँ, ये सब भागीदार होंगे। पर मुनियों ने प्रेरणा दी कि जाकर परिवार के लोगों से पूछो। वे गये, तो परिवार के सदस्यों ने स्पष्ट कह दिया – ''हमने कब कहा कि आप डाका डालिए। परिवार का पोषण करना आपका कर्तव्य है, इसके लिये यदि आप अनुचित मार्ग का अवलम्बन लेकर चलेंगे, तो परिणाम आपको ही तो भोगना पड़ेगा ! हम क्यों भोगेंगे?''

वाल्मीकि के मन में ग्लानि हुई। उनके जीवन में यह ग्लानि का पक्ष है। उन्हें सत्संग के द्वारा अपनी कमी का भान हुआ; मन में ग्लानि उत्पन्न हो गई। जब वे लौटकर आये, तो मुनियों के चरण पकड़कर कहने लगे – मेरे जीवन में तो इतनी बड़ी-बड़ी भूलें हो चुकी हैं, अब मैं क्या करूँ? तब सन्तगण कृपा करके राम-नाम का उपदेश देते हैं, परन्तु उस उपदेश का पालन उनके लिए कितना कठिन था ! एक तो उनकी हिंसा-प्रधान वृत्ति, फिर उसकी जिह्वा राम-नाम का उच्चारण करने में भी समर्थ नहीं थी। वे 'राम' के स्थान पर 'मरा' शब्द जपने लगे। गोस्वामीजी उनका नाम गिनाते हुए कहते हैं – आदिकवि वाल्मीकिजी राम-नाम का प्रताप जानते हैं, जो उल्टा नाम जपकर पवित्र हो गये –

जान आदिकबि नाम प्रतापू ।
भयउ सुद्ध करि उलटा जापू ।। १/१९/६

वाल्मीकि ने राम के स्थान पर मरा शब्द का जप किया और वे धन्य हो गये। यह कौन-सी वृत्ति है? कई लोग कहते हैं कि यह कथा तो बड़ी गपोड़बाजी है। 'राम' के स्थान पर 'मरा'' जपने से कैसे कल्याण हो सकता है ! परन्तु आप इस पर गहराई से विचार करें। ❖ **(क्रमश:)** ❖

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

दोष-दर्शन से हानि

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्दजी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिये विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा प्रसारित किये गये तथा लोकप्रिय भी हुए। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। – सं.)

मैंने दिल्ली में एक बार श्रीरामकृष्णदेव की लीला-सहधर्मिणी श्री माँ सारदादेवी के जीवन और सन्देश पर चर्चा की थी। माँ ने किसी को शान्ति पाने का उपाय बताते हुए कहा था – "किसी के दोष मत देखना, दोष देखना अपना।" बाद में एक श्रोता ने मुझसे पूछा, "यदि हम किसी के दोष न देखें तो काम कैसे चलेगा? व्यक्ति गलती करेगा और यदि हम उसका दोष बताएँगे, तब तो दोष देखना हो गया। और नहीं बताएँगे तो इससे दुनिया कैसे चलेगी?"

यह सार्थक प्रश्न है। यदि हम दोष न देखें, तो सुधार कैसे होगा? यदि माता-पिता अपने बच्चों के दोष न देखें, तब बच्चे कैसे सुधरेंगे? यदि मैं अपने मातहत काम करने वाले लोगों का दोष न देखूँ, तो उनको सुधारूँगा कैसे? यदि शिक्षक विद्यार्थी के दोष न देखे, तो विद्यार्थी आगे बढ़ेगा कैसे? बिना दोष-दर्शन के दोषों को सुधारने का कोई उपाय नहीं। तब यह जो कहा जाता है कि दूसरों का दोष न देखो, इसका क्या मतलब?

बात यह है कि दोष देखना भी दो प्रकार का है। एक प्रकार वह है, जिसमें दोष देखकर हम व्यक्ति की निन्दा करते हैं, उस पर हँसते हैं। ऐसा दोष देखने में हमें रस मिलता है। हम चटखारे लेकर दूसरे के दोषों की चर्चा करते हैं। दूसरा प्रकार वह है, जिसे हम चिकित्सक की दृष्टि कहते हैं। चिकित्सक भी रोगी के दोष देखता है, पर हँसने के लिए नहीं। वह दोषों को दूर करना चाहता है। दोषों को देखकर उसे हँसी नहीं आती, न ही दोषों का प्रचार करने में उसे रस मिलता है। वह भी बहुत बारीकी से दोष देखता है पर उनका निदान करने के लिए। जिस दोष-दर्शन की निन्दा की जाती है, वह पहले प्रकार का है।

तो उचित और अनुचित दोष-दर्शन की मोटी कसौटी यह है कि जब हम व्यक्ति का हित करने के लिए उसके दोषों को देखते हैं, तो वह उचित है। इसके पीछे हमारा अभिप्राय यही रहता है कि दोषों को बता देने से व्यक्ति अपने को सुधारने की चेष्टा करेगा। पर जहाँ दोष-दर्शन के पीछे व्यक्ति के अहित का भाव हो वह अनुचित है। ऐसे दोष-दर्शन से हमें बचना चाहिए। इसलिए ही नहीं कि उससे हम व्यक्ति का अकल्याण करते हैं, बल्कि इसलिए भी कि ऐसा करके हम स्वयं अपना अकल्याण करते हैं। जब हम दूसरों के दोषों को इस उद्देश्य से देखते हैं कि उन लोगों को हम नीचा दिखाएँ, तो वस्तुतः हम दोष का रसास्वादन कर रहे होते हैं। ऐसा रसास्वादन हमारे अपने भीतर उन दोषों को संक्रमित करने लगता है; फलस्वरूप जिन दोषों का दोषी हम दूसरों को बनाते थे, वे ही दोष हममें पैदा हो जाते हैं।

इस सन्दर्भ में श्रीरामकृष्ण देव के जीवन में घटी एक घटना स्मरणीय है। उनसे मिलने के लिए कर्ताभजा सम्प्रदाय के लोग आये थे। यह एक वामाचारी सम्प्रदाय था जो पंच-मकार की साधना में विश्वास करता था। जब ये लोग चले गये तो नरेन्द्रनाथ, जो कालान्तर में स्वामी विवेकानन्द के नाम से विख्यात हुए, उन लोगों की, उनकी साधना पद्धति की जमकर निन्दा करने लगे। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें एकदम रोक दिया, कहा – "क्या व्यर्थ की चर्चा करता है? दूसरों की गन्दगी की चर्चा हमारे मन में भी गन्दगी भर देती है। इसलिए ऐसे दोष-दर्शन और निन्दा-आक्षेप से बचना चाहिए।"

यह दोषों के प्रति सही दृष्टि है। हमें सावधानी रखनी चाहिए कि दूसरे व्यक्ति के जिन दोषों की चर्चा में हमें रस आता है, कहीं वे हमारे भी भीतर तो नहीं पैठ गये हैं।

दोष-दर्शन का एक दूसरा भी सन्दर्भ है, जो हमारे अपने लिए उपकारी है। चिकित्सक, शिक्षक, माता-पिता अथवा बड़े-बुजुर्गों का दोष-दर्शन दूसरों के लिए उपकारी होता है, पर वे स्वयं के उपकार के लिए भी दोष-दर्शन कर सकते हैं। इसका वर्णन गीता के १३वें अध्याय के अन्तर्गत ८वें श्लोक में किया गया है, जहाँ पर कहा गया है - **जन्ममृत्यु-जराव्याधि दुःखदोषानुदर्शनम्** – जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा और रोग में दुःख और दोष का बार बार विचार करना। यह साधना के क्षेत्र का दोष-दर्शन है, जो शरीर के दोषों को देखने का पाठ सिखाता है। जिस शरीर के प्रति आसक्ति के कारण हम दूसरों के हित का ध्यान नहीं रखते हैं, वह स्वयं कितने दोषों से भरा है, ऐसा बारम्बार विचार हमें अपने शरीर के घेरे से ऊपर उठाता है और व्यापक दृष्टि प्रदान करता है। जिस शरीर को हम इतना सजाते-सँवारते हैं, वह आखिर मल का ही तो हण्डा है, केवल गन्दगी ही तो बिखेरता है, यदि ऐसा दोष-दर्शन रहा, तो उससे हमें स्वार्थ से ऊपर उठकर जीवन के उच्चतर मूल्यों की ओर उन्मुख होने में सहायता मिलती है। हम दोष-दर्शन तो करें, पर सही सन्दर्भों में। ❑

आत्माराम के संस्मरण (२७)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवों के आधार पर कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। अब तक हम उनके तीन ग्रन्थों – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें', 'मानवता की झाँकी' एवं 'आत्माराम की आत्मकथा' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं। १९६५-६६ के दौरान उन्होंने एक बार पुन: कुछ संस्मरणों को बँगला भाषा में लिखा था। उनमें से कुछ अप्रकाशित हैं। पूर्व-प्रकाशित घटनाएँ भी भिन्न विवरणों के साथ लिखी गयी हैं, अत: पुनरुक्त होने पर भी रोचक, शिक्षाप्रद तथा प्रेरणादायी हैं। – सं.)

कराची – बैंक का दीवाला (१९२७)

संन्यासी एक बार कराची (सिंध) गया। एक हैदराबादी सिन्धी सज्जन के घर में ठहरा। उन्होंने अनुग्रह करके स्थान दिया था। गृहस्वामी का छोटा लड़का बड़ा मिलनसार था। सुबह हो या शाम – समय पाते ही संन्यासी के पास आकर पुस्तकें पढ़ता, प्रश्न पूछता और विभिन्न विषयों पर चर्चा करता। एक दिन वह हैदराबाद के एक वकील को संन्यासी के पास ले आया। ये उन लोगों के अतिथि थे। विविध विषयों पर बातें होने लगीं। वकील साहब राष्ट्रवादी थे, बंगाल तथा बंगालियों की – विशेषकर राष्ट्रवाद के ऋषि बंकिमचन्द्र की खूब प्रशंसा करने लगे। उनके 'बन्दे-मातरम्' गीत ने उनके प्राणों में देशात्म-बोध जगा दिया था। इसके लिये वे बंगाल के ऋणी थे। वे बंकिम बाबू की पुस्तकें पढ़ने के लिये बँगला भाषा सीखना चाहते थे। इसके बाद वे कविवर रवीन्द्रनाथ के प्रति श्रद्धा निवेदित करने लगे। इसी प्रकार रात के साढ़े दस बज गये। सोने का समय हो जाने के कारण चले गये, परन्तु कहते गये कि सुबह फिर आयेंगे।

अगले दिन सुबह चाय के समय वे आये तो सही, परन्तु तब वे एक बिलकुल भिन्न मूर्ति धारण किये हुए थे। यदि सम्भव होता तो शायद मेरा सिर ही नोंच डालते। अत्यन्त उग्र रूप से अकथनीय शब्दों में बंगाली लोगों का श्राद्ध करने लगे। संन्यासी तो अवाक् रह गया। रात में इन्हें क्या हो गया? ऐसी तो कोई भी बात नहीं हुई थी, जिससे इनके मन को आघात या कष्ट पहुँचता। परन्तु उनके शब्दकोष में जितने भी 'रोचक' शब्द थे, उन्हीं को सुनाने में व्यस्त रहे। थोड़ा ठहरते, तब तो पूछा जाता कि मामला क्या है? क्यों यह रुद्र-रूप धारण कर रखा है?

बोलते-बोलते थक जाने के बाद वे थोड़ा ठहरकर रोने लगे। इसी बीच वह बालक भी आकर खड़ा हो गया था और विस्मित होकर सोच रहा था कि बात क्या है!

संन्यासी ने शान्त भाव से पूछा – "क्या मैं जान सकता हूँ कि सहसा आपके इस भाव-परिवर्तन का क्या कारण है? सहसा बंगालियों के ऊपर आपके क्रोध उमड़ आने का क्या कारण है? यदि पिछली रात मेरे मुख से कुछ ऐसा निकल गया हो, जिससे आपके मन को खूब चोट लगी हो, तो बताइये!"

बालक बोला – "नहीं, वैसी तो कोई बात ही कहाँ हुई? आप अकारण ही क्यों स्वामीजी को बुरा-भला कह रहे हैं? आप हमारे अतिथि हैं, नहीं तो ...।"

संन्यासी बीच में पड़कर बोला – "इन्हें निश्चय ही कोई भयंकर कष्ट हुआ है, इसीलिये उसे सहने में असमर्थ होकर ऐसा आचरण कर रहे हैं।"

तब वकील साहब बोले – "क्यों? क्या आप नहीं जानते कि बंगाल नेशनल बैंक फेल हो गया है? अपना सब कुछ – जीवन में अति कष्ट द्वारा उपार्जित सारी जमा-पूँजी – पाँच हजार रुपये मैंने उसी बैंक में जमा कर रखे थे, सब चला गया।" इतना कहकर वे रोने लगे।

लड़का बोला – "बैंक के साथ इनका क्या सम्बन्ध है?"

संन्यासी – "ओह, समझ गया, बंगाली होने के कारण! यद्यपि उससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, परन्तु मैं उसी प्रदेश का हूँ, इसीलिये इन्हें जो कुछ कहना था, वह मुझे ही बोलकर अपने मन का क्रोध तथा दु:ख जरा-सा निकाल लिया। ठीक है, कहिये महाशय, और कहिये।"

तब तक वकील साहब थोड़े शान्त हो गये थे। अब उनकी समझ में आ रहा था कि वे क्रोध में संन्यासी से जो कुछ बोल गये थे, वह ठीक नहीं हुआ। पाँव पकड़कर बोले – "क्षमा कीजिये, मुझे क्षमा कीजिये। मुझसे भूल हुई है। मुझे कुछ ज्ञात नहीं था और आज सुबह यह टेलीग्राम आ पहुँचा – बैंक फेल हो गया है!" वे फिर रोने लगे।

संन्यासी ने उनका हाथ पकड़कर पास की कुर्सी पर बैठाया और सांत्वना देते हुए बोला – "इससे आपका कोई दोष नहीं हुआ है। आपने जो कुछ कहा है, उससे मुझे खूब शिक्षा मिली है। क्षुधार्थ बंगाल और बंगाली जाति मेरे भीतर मिलकर मानो एक; और मुझसे अभिन्न हो गयी है। एक बंगाली की गलती बंगाल के बाहर कैसी प्रतिक्रिया सृष्टि कर सकती है, इसका मुझे अच्छा अनुभव हुआ। ... मैंने इसमें कोई बुरा नहीं माना है। आपका तो बिलकुल भी नहीं।

"तो भी केवल एक ही बात मैं आपको स्मरण रखने को कहूँगा कि एक व्यक्ति या कुछ लोगों की त्रुटि या दोष के लिये पूरी जाति पर आरोप लगाना अनुचित है। यदि कोई एक या कुछ सिन्धी कोई गलत कार्य करें, तो क्या मैं सभी

के ऊपर दोषारोपण करूँगा? ऐसा नहीं हो सकता। और यदि ऐसा किया जाय, तो क्या वह अनुचित नहीं होगा?''

वे क्षमा माँगते हुए बोले – ''मुझसे भूल हुई है। सचमुच ही मेरा कहना अनुचित था। व्योमकेश पर मेरी श्रद्धा है। मैं अब भी उन पर विश्वास करता हूँ। परन्तु वे लाहिड़ी को उत्तरदायित्व देकर निश्चिन्त हो गये थे, यही उनकी भूल हुई, जिसके फलस्वरूप ऐसा स्वदेशी बैंक फेल हो गया। हमारे जैसे गरीब लोग मारे गये। कितने बार उस अभागे से मिलने कलकत्ते गया, चेष्टा भी की, परन्तु किसी भी प्रकार उससे भेंट नहीं हुई। उसके घर जाने पर घर के लोगों ने झूठ बोल दिया – नहीं हैं। व्योमकेश को कहने पर भी उसने कोई कदम नहीं उठाया। सन्देह होने के कारण रुपये निकालने गया था, परन्तु अब तो मेरा सर्वस्व चला गया। (वे फिर रोने लगे) ऐसे व्यक्ति को कठोर सजा मिलनी चाहिये।''

संन्यासी – ''सचमुच, ऐसा ही उचित होगा। जो व्यक्ति पूरे देश या जाति के अपमान का कारण हो, उसे अवश्य ही कठोर सजा दी जानी चाहिये। सम्भवत: अन्य स्वतंत्र देशों में ऐसे लोगों के जीवित रहने का भी अधिकार नहीं रहता!''

बालक बोला – ''महाराज, मैं समझ गया कि विदेश जाने पर कितना सावधान रहना पड़ता है! देश में यदि कोई कुछ दुष्कर्म करे, तो विदेशों में उसकी कितनी बुरी प्रतिक्रिया हो सकती है! यही देखिये न, आप संन्यासी हैं, आप पूरे विश्व के हैं, तो भी बिना कारण ही आपको कितनी कटु बातें सुननी पड़ीं! आपने शान्तिपूर्वक सब सहन कर लिया, पर दूसरा कोई होता, तो कोई भयंकर घटना हो जाती।''

वकील बोले – ''मैं बड़ा लज्जित हूँ, स्वामीजी। आप मुझे क्षमा कर दीजिये।''

संन्यासी – ''वह तो काफी पहले ही कर चुका हूँ। आप शान्त हो जाइये। थोड़ा चाय वगैरह पी लीजिये।''

इशारा करते ही बालक उनका हाथ पकड़कर चायवाले कमरे की ओर ले गया। हैदराबाद लौटने के पूर्व वे एक बार फिर आकर क्षमा माँग गये थे।

आबू पहाड़ – रामकुण्ड में (१९२८)

आबू पहाड़। संन्यासी रास्ता चलते-चलते थक गया था। शाम के समय पहाड़ के ऊपर पहुँचा और सोचने लगा कि रात कहाँ बिताई जाय, क्योंकि वहाँ यह पहली बार आगमन हुआ था। रास्ते में एक सज्जन ने बातचीत आरम्भ की – ''कहाँ से आ रहे हैं? कहाँ रहेंगे? आदि, आदि।'' कहा – ''हैदराबाद – सिन्ध से आ रहा हूँ। और पता नहीं कहाँ रहूँगा, क्योंकि पहली बार आना हुआ है।'' उन्होंने तत्काल कहा – ''रामकुण्ड चले जाइये और इतना ही बता दीजियेगा कि माधो प्रसाद ने यह पता देकर भेजा है। मैं सुबह आकर आपसे मिलूँगा।'' उसके बाद धीरे से बोले – ''मैं पुलिस इंस्पेक्टर हूँ।''

रामकुण्ड जाने पर, वहाँ के महन्त शिवानन्दजी ने बताया – ''यहाँ तो जगह खाली नहीं है, परन्तु पास के जंगल में एक छोटी सी गुफा है। वैसे लगता है वहाँ सिद्ध तथा विद्याधर लोग रहते हैं, इसीलिये रात में सहसा वहाँ धूनी जल उठती है और चारों ओर प्रकाश फैल जाता है। परन्तु दिन में कुछ देखने में नहीं आता। आदि, आदि।''

संन्यासी बोला – ''तब तो अच्छा ही रहेगा। इसी मौके से वहाँ उन लोगों के साथ भेंट-मुलाकात भी हो जायेगी। महन्तजी बोले – ''वह सब तुम समझ-बूझकर जाना।'' उन दिनों रामकुण्ड में एक पहाड़ी ब्रह्मचारी रहते थे। उन्होंने तत्काल साथ जाकर गुफा दिखा दी और उसी समय उसकी सफाई करके गोबर लाकर लीप दिया। गुफा के बीच में एक छोटा-सा धूनी का स्थान था, उसमें लकड़ियाँ सजा दी और आग सुलगाने के बाद बोले – ''यह देखिये, सिद्ध-विद्याधरों की धूनी जल गयी है'' – और हँसने लगे।

जगह खूब निर्जन और 'सिद्ध गुफा' के नाम से परिचित था। रामकुण्ड में छोटा-सा कुण्ड तथा एक कुँआ भी है। कुँए का पानी अच्छा है, परन्तु कुण्ड का पानी पीने के योग्य नहीं है – केवल दो-तीन फीट गहरा है और पहाड़ से जो थोड़ा-थोड़ा पानी आता था, उसी से उन दिनों भरा रहता था।

गुफा में द्वार नहीं था। संन्यासी का कद छोटा था, तो भी बड़ी कठिनाई से उसमें लेटने की जगह हुई। गुफा के सामने से ही भालुओं, लकड़बग्घे, बघेरे, चीतों आदि जंगली जानवरों का रास्ता था। परन्तु उन लोगों ने किसी दिन अनिष्ट नहीं किया। केवल एक दिन रात को धूनी प्राय: बुझ चुकी थी और संन्यासी को नींद आ चुकी थी, उस समय एक लकड़बग्घे ने आकर पाँव सूँघा था। जाकर 'हट' करते ही चला गया। रात को धूनी जलाकर रखना पड़ता था। दिन के समय कभी-कभी भोजन की तलाश में काले बन्दर आकर सारा समान उलट-पुलट कर देख जाते थे। खाने योग्य तो उन्हें कुछ मिलता नहीं था, क्योंकि भिक्षा में जो कुछ मिलता, वह तो एक बार ही खाने भर को होता। कुछ संचय नहीं होता था। तब आम का मौसम था। जंगल में आम तथा जामुन बहुतायत से थे, फिर करमचा, गूलर आदि के पेड़ भी थे – अधिकांश अच्छे मीठे थे, कुछ खट्टे भी थे। परन्तु इतने मधुर स्वादवाले और इतनी अधिक संख्या में फलों के वृक्ष अन्य किसी भी पहाड़ पर देखने में नहीं आये। संन्यासी बीच-बीच में कुछ आम एकत्र करके पकाने के लिये गुफा में रख देता। बीच में मौका देखकर बन्दर आते, उलट-पुलट कर देखते और खाकर चारों ओर फेंक देते। अस्तु।

अगले दिन सुबह माधोप्रसाद जी संन्यासी के लिये थोड़ा-

सा दूध लेकर आये। बड़े सज्जन व्यक्ति थे। बातचीत के दौरान जब पता चला कि शरीर बंगाल का है, तो मुख की ओर अच्छी तरह देखते हुए पूछा – "साधु शान्तिनाथ को जानते हैं क्या?" – "अवश्य, बड़े अच्छी तरह से जानता हूँ।" वे थोड़ा हँसते हुए बोले – "उनकी सूचना मुझे मिली है। वे भी कुछ दिन इसी पहाड़ पर थे। उन पर सरकार की दृष्टि रहती थी और उसकी जिम्मेदारी मेरे ही ऊपर थी।"

संन्यासी हँसते हुए बोला – "मुझे देखने का भार भी आपके ही ऊपर है – सरकार के न देने पर भी, मैं ही आपको यह उत्तरदायित्व सौंपता हूँ।" वे जी खोलकर खूब हँसे। संन्यासी भी हँसने लगा।

सचमुच ही उन्होंने संन्यासी के लिये काफी कुछ किया था – उस समय भी और बाद में भी। साथ में घुमाने ले जाते, अपनी पत्नी की अस्वस्थता के समय कई बार स्वयं ही पकाकर खिलाया भी था। संन्यासी के साथ उनकी खूब आत्मीयता हो गयी थी। वे गुजराती नागर ब्राह्मण थे। परन्तु उस पहले दिन उतनी-सी बात के बाद उन्होंने कभी बंगाल अथवा वहाँ के क्रान्तिकारियों के विषय में चर्चा नहीं की। केवल एक दिन बोले थे – "सुपरिंटेंडेंट पूछ रहे थे कि कहीं आप भी तो शान्तिनाथ के समान ही आतंकवादियों के दल के तो नहीं हैं? उत्तर में मैंने कह दिया – वे साधु आदमी हैं और चिन्ता की कोई बात नहीं है। बस।"

हाथीभाई शास्त्री, जामनगर

दिग्गज विद्वान् भी अपने स्वार्थ में अन्धे हो सकते हैं। और कई बार उनका आचरण भी उनकी विद्वत्ता के अनुरूप नहीं होता। जो आरोप लगाकर व्यक्ति दूसरों को दोषी ठहराता है, दण्ड देता है, जाति-पाति से बहिष्कृत कर देता है, स्वार्थ के चलते वही कार्य स्वयं करता है। मोह से अन्धा व्यक्ति क्या नहीं कर सकता!

१९२९ ई. में संन्यासी जामनगर गया था। अपने परिचित परशुराम जुन्नारकर वहाँ के एक विशिष्ट व्यक्ति थे – सुप्रसिद्ध क्रिकेट खिलाड़ी महाराजा रणजीत सिंह के राजनीतिक सचिव; और गोकुल भाई पटेल राज्य के रेवेन्यू दीवान थे। इन्हीं लोगों ने हाथीभाई शास्त्री के साथ परिचय कराया। शास्त्रीजी पूरे गुजरात में न्याय-शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे।

पहले श्री जुन्नारकर ने शास्त्रीजी से मिलने का समय लिया और संन्यासी को सूचित किया कि शास्त्रीजी स्वयं ही शाम को ४ बजे श्री विश्वनाथ मन्दिर में उससे मिलने आयेंगे। शास्त्रीजी इस मन्दिर के प्रधान ट्रस्टी थे। मन्दिर के मूल मालिक थे पंचम भाई फोटोग्राफर। ये भक्त तथा सज्जन व्यक्ति थे और उन्हीं की व्यवस्था से संन्यासी को मन्दिर में स्थान मिला था।

संन्यासी ने बैठकर प्रतीक्षा की, परन्तु शाम हो जाने पर भी शास्त्रीजी नहीं दिखे। इसके बाद वह अपने नित्य के नियमानुसार बीड़भंजन मन्दिर की ओर टहलने निकल गया। श्री जुन्नारकर तथा गोकुल भाई वहाँ प्रतिदिन आते और संन्यासी के साथ सत्संग करते। संन्यासी के मुख से यह सुनकर कि शास्त्रीजी नहीं आये, वे थोड़े विस्मित हुए और बोले कि वे उनसे फिर पूछ कर संन्यासी को उनके आने के 'समय' से अवगत करा देंगे। अगले दिन फिर संन्यासी को सूचना मिली कि वे शाम को चार बजे मन्दिर में ही उससे मिलने आयेंगे। संन्यासी उनकी प्रतीक्षा में शाम तक बैठा रहा और उसके बाद टहलने गया और उन दोनों से भेंट होने पर यह बात बतायी। वे लोग अवाक् रह गये – दो-दो बार स्वयं ही समय देकर न आना! यह कैसी बात!

इसके बाद संन्यासी ने उन लोगों को मना करते हुए कहा – "हो सकता है कि उनकी इच्छा न हो, परन्तु आप लोगों को 'नहीं' कहने में संकोच का अनुभव कर रहे हों। यदि उनकी इच्छा हुई, तो अब वे स्वयं ही आयें।"

तीन-चार दिन बाद संन्यासी राजकोट जानेवाला था। शाम को बीड़भंजन मन्दिर में 'राम-नाम-संकीर्तन' की व्यवस्था हुई थी। संकीर्तन के बाद लोगों को सम्बोधित कर दो-चार शब्द कहने के बाद संन्यासी बाहर निकला, तभी दोनों जन बोल उठे – "वो आ रहे हैं शास्त्रीजी!" संन्यासी ने देखा कि शास्त्रीजी जी उसकी अपेक्षा भी ठिगने हैं – साढ़े तीन फीट के रहे होंगे और दुबला-पतला शरीर। शास्त्रीजी कई लोगों के साथ चले आ रहे थे। आते ही कहने लगे – "कार्यवश मन्दिर नहीं आ सका, बुरा मत मानियेगा। सुना कि आप चले जा रहे हैं। क्यों? रहिये न! आपको कोई असुविधा तो नहीं हो रही है? पंचम भाई को कहते ही वे सारी व्यवस्था कर देंगे। आदि आदि।"

संन्यासी (थोड़ा हँसकर) – "सोचा था कि विशाल शरीर लेकर मन्दिर तक आना शायद आपके लिये कष्टकर हो रहा होगा, इसीलिये ... परन्तु देखता हूँ कि वैसी कोई बात नहीं है।" यह सुनकर सब लोग खूब हँसने लगे। शास्त्रीजी भी हँसी में सम्मिलित हुए, परन्तु चोट तो उन्हें लगी ही!

कुछ वर्षों बाद बालाचढ़ी में उनके साथ फिर मुलाकात हुई। जामनगर से कई मील दूर समुद्र के किनारे स्थित वह जाम साहब का विशेष आरामगाह था। संन्यासी उस वर्ष गर्मी बिताने के लिये आबू के स्थान पर वहीं गया था। श्री जुन्नारकर तथा श्री गोकुलभाई ने ठहरने की व्यवस्था की थी। स्थान बुरा नहीं था, काफी सुन्दर था, परन्तु गरम था, समुद्र के किनारे होने पर भी ठण्डा नहीं था। दिन में ३-४ बार और हवा न चलने पर रात में भी स्नान करना पड़ता था। भाटा के समय समुद्र के किनारे हवा बन्द हो जाती है और ज्वार आने

पर जोर की हवा चलती है ।

उन दिनों राजकोट के वकील श्री बेनीलाल बक्सी भी वायु-परिवर्तन हेतु बालाचढ़ी के अतिथिशाला में ही निवास कर रहे थे । एक दिन शास्त्रीजी बक्सीजी से मिलने आये । उन दिनों वे बीमार थे । बक्सीजी ने संन्यासी को शास्त्रीजी के आने की सूचना दी और चाय के लिये आमंत्रित भी किया ।

संन्यासी को ज्ञात था कि शास्त्रीजी ने राजकोट के एक डॉक्टर बक्सी तथा उनके पूरे परिवार को जातिच्युत करवा दिया था । संन्यासी का उनके साथ थोड़ा-सा परिचय था, परन्तु उनके एक सम्बन्धी के साथ घनिष्ठता थी । डॉक्टर के उन सम्बन्धी ने संन्यासी को विशेष अनुरोध के साथ बताया था कि जाति से निकाल दिये जाने के कारण डॉक्टर, उनकी स्त्री तथा बच्चों को भी बड़ा कष्ट है । यह ठीक है कि डॉक्टर बिलायत गये थे, परन्तु स्त्री-पुत्र तो बिलायत नहीं गये, उन लोगों को भी जाति से निकाल देना क्या उचित हुआ है? यदि आप इन पर दबाव लाकर इतना भी करा सकें कि डॉक्टर के अतिरिक्त अन्य सभी को फिर से जाति में वापस ले लिया जाय, तो बड़ा उपकार होगा ।''

संन्यासी उनके तर्क से सन्तुष्ट हुआ था और शास्त्रीजी के एक सम्बन्धी के माध्यम से उसने शास्त्रीजी द्वारा वह कार्य कराया । वैसे उन डॉक्टर के साथ संन्यासी का कोई परिचय नहीं था, परन्तु स्वयं भी इस प्रकार के सामाजिक अत्याचार का विरोधी होने के कारण, इसका औचित्य देखकर उसने इस कार्य में सहयोग दिया था ।

बालाचढ़ी में चाय पीते हुए बक्सी बोले – ''स्वामीजी, आप यह सुनकर आनन्दित होंगे कि शास्त्रीजी लन्दन जा रहे हैं । जाम साहब ने लन्दन-विश्वविद्यालय के साथ व्यवस्था की है, ये वहाँ के प्राध्यापकों को संस्कृत सिखायेंगे । है कि नहीं, बड़ी अच्छी बात ! आपका क्या विचार है?''

संन्यासी – ''यह तो केवल जामनगर के लिये ही नहीं, पूरे भारतवर्ष के लिये अत्यन्त गौरव की बात है । सुनकर मैं खूब आनन्दित हुआ । यही तो होना चाहिये । उनके जैसे और भी अनेक लोग जायँ, तो बहुत अच्छा होगा ।''

शास्त्रीजी – ''महाराजा जाम साहब का खूब आग्रह है । वे अपने ही खर्च पर मुझे ले जा रहे हैं – आने-जाने का खर्च, वहाँ रहने का खर्च और २५० रुपये मासिक वेतन भी देंगे । साथ में रसोइया ब्राह्मण भी ले जाऊँगा । उसका खर्च तथा १०० रुपये मासिक वेतन भी जाम साहब ही देंगे । बताया है कि राजभवन में ही ठहरने की व्यवस्था रहेगी । सोचा है कि अपने बड़े लड़के को ही रसोइया ब्राह्मण बनाकर ले जाऊँगा । वह मैट्रिक पास है । वहाँ तीन वर्ष रहने की शर्त पर जा रहा हूँ । इन तीन वर्षों में लड़का यदि बैरिस्टर हो जाय, तो बिना खर्च ही एक बड़ा कार्य हो जायेगा ।''

संन्यासी – ''वाह ! बड़ा सुन्दर सुयोग है । बड़ा अच्छा रहेगा । आपने तो बड़ी बुद्धिमत्ता-पूर्वक सब सोच रखा है । बड़े आनन्द की बात है । इसके लिये मैं जाम साहब को धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ ।''

तभी संन्यासी को याद आयी – डॉक्टर को जाति से निकलवाने की बात । वह थोड़े गम्भीर स्वर में बोला – ''परन्तु शास्त्रीजी, लन्दन जाने के पूर्व डॉक्टर बक्सी को जाति में वापस स्थान दिलाकर जायेंगे । मेरे ही अनुरोध पर उनके परिवार के लोगों को तो आपने वापस ले लिया था, ... अब डॉक्टर को भी ले लीजिये ।''

सुनकर शास्त्रीजी की आँखें विस्मय से फैल गयीं । वे लज्जित और चकित होकर देखने लगे ।

संन्यासी – ''उसे समाज में वापस लिये बिना तो आपका लन्दन जाना नहीं हो सकेगा । वह मेरा कोई सम्बन्धी नहीं है और न उससे मेरा कोई परिचय या सम्पर्क ही है, केवल हम दोनों एक-दूसरे के नाम से परिचित हैं, परन्तु आपके समान एक विद्वान् इस प्रकार का सामाजिक अत्याचार करे – यह मेरी सहनशीलता के परे है । यदि आप उसे यथाविधि समाज में वापस न लें, तो मैं आपके विरुद्ध एक खुला आन्दोलन चलाऊँगा और देख लूँगा कि आप कैसे जाते हैं !''

इतना कहकर संन्यासी वहाँ से उठकर चला गया ।

इसके बाद सुनने में आया कि शास्त्रीजी वहीं बक्सी के लड़के के पास बहुत देर तक गुमशुम बैठे रहे और खिन्न मन के साथ जामनगर चले गये ।

उधर महाराजा रणजीत सिंहजी लन्दन के किसी प्राध्यापक के साथ बातचीत पक्की करने के बाद जामनगर में आदेश भेजा कि शास्त्रीजी को अमुक तारीख के भीतर रवाना कर दिया जाय । इधर शास्त्रीजी पहले तो राजी हो गये थे, परन्तु अब आनाकानी करने लगे । महाराजा ने नाराज होकर आदेश भेजा कि उन्हें बलपूर्वक भेज दिया जाय । इस पर शास्त्रीजी घबराकर रातो-रात पोरबन्दर भाग गये और जामनगर के अधिकार-क्षेत्र के बाहर राणा साहब का आश्रय ग्रहण किया । उधर से फिर हुकुम आया कि उनके जामनगर आते ही कैद कर लिया जाय । महाराजा रणजीत सिंहजी की मृत्यु के बाद राजा तथा अफसरों का परिवर्तन होने के बाद ही उन्होंने जामनगर में दुबारा घुसने का साहस किया था ।

संन्यासी के साथ उनकी दुबारा भेंट नहीं हुई । वे लन्दन क्यों नहीं गये? वे जाम साहब के रोष से बचने के लिये क्यों पोरबन्दर भाग गये थे? यह रहस्य उस समय कोई जान नहीं सका था और अब भी कोई नहीं जानता – केवल संन्यासी, बेनीलाल बक्सी और वे स्वयं ही जानते थे । ❖ **(क्रमशः)** ❖

रेवरेंड हरिहर सान्याल

स्वामी प्रभानन्द

(श्रीरामकृष्ण के जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके सम्पर्क में आये और क्रमश: उनके अनुरागी, भक्त या शिष्य बने। विद्वान् लेखक रामकृष्ण मठ तथा मिशन के महासचिव हैं। आपने अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के साथ उनकी प्रारम्भिक मुलाकातों का वर्णन किया है। इस शृंखला के अनेक लेखों के अनुवाद १९७८ से १९८८ के दौरान विवेक-ज्योति में प्रकाशित हुए थे। वर्तमान लेख First Meetings with Sri Ramakrishna नामक अंग्रेजी ग्रन्थ से स्वामी विदेहात्मानन्द द्वारा अनुवादित हुआ है। – सं.)

केशव चन्द्र सेन जब अपनी प्रसिद्धि के शिखर पर पहुँच चुके थे, तभी वे दक्षिणेश्वर के परमहंस के सम्पर्क में आये। वह १५ मार्च १८७५ ई. का दिन था। वे उनसे इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने २८ मार्च १८७५ के इंडियन मिरर में इसकी घोषणा की। यह तथा केशव चन्द्र सेन के अन्य छिटपुट लेखों ने शिक्षित जनता का, विशेषकर ब्राह्मसमाज के अनुयाइयों का ध्यान श्रीरामकृष्ण की ओर आकृष्ट किया। आपात् दृष्टि से यद्यपि श्रीरामकृष्ण पुरातन धार्मिक अनुष्ठानों, जातिप्रथा तथा परम्पराओं के एक कठोर अनुगामी प्रतीत होते थे, तथापि वे विभिन्न सम्प्रदायों का इस रूप में स्वागत करते थे कि वे सभी ईश्वर की ओर जाने हेतु मानवता द्वारा अपनाये गये विभिन्न मार्ग हैं। वे किसी भी चीज का तिरस्कार नहीं करते थे, बल्कि उनके पास हर प्रकार के विश्वास, प्रत्येक रीति-रिवाज तथा आध्यात्मिक उपदेश के लिये स्थान था, क्योंकि मनुष्य के आध्यात्मिक प्रगति में उन सबका एक स्वाभाविक स्थान था। इसके विपरीत, केशव ने बहुत-कुछ काट-छाँट की थी – बहुत-सी चीजों का अनुमोदन और कुछ का संयोजन किया था। इस भेद के बावजूद, ब्राह्मसमाजियों सहित सभी धर्मों के शिक्षित लोगों ने श्रीरामकृष्ण के प्रति श्रद्धायुक्त आकर्षण का अनुभव किया।

तथापि कुछ अपवाद भी थे। कट्टरपन्थी लोगों ने, श्रीरामकृष्ण के उपदेशों के गहन तात्पर्य न समझकर उनमें दोष ही ढूँढ़ने का प्रयास किया। उदाहरण के रूप में हम एक ईसाई स्रोत से उद्धरण दे सकते हैं – "उनके दृष्टान्त घिसे-पिटे हैं, जो हिन्दू ग्रन्थों में बहुलता से प्रयुक्त हुए हैं। ... उनमें से एक तो इस प्रचलित कहावत का ही दूसरा रूप है – 'जैसे एक ही नगर में जाने के अनेक रास्ते हैं, वैसे ही सभी धर्म ईश्वर की ओर ले जाते हैं।' इसका रामकृष्ण द्वारा कथित रूप को मैक्समूलर ने प्रस्तुत किया है – 'जैसे कोई व्यक्ति एक सीढ़ी, या एक बाँस, या एक रस्सी के द्वारा एक मकान की छत पर जा सकता है, वैसे ही ईश्वर तक पहुँचने के लिये भी अनेक मार्ग तथा साधन हैं; और विश्व का प्रत्येक धर्म इनमें से कोई एक मार्ग दिखाता है।' यहाँ रामकृष्ण के तर्क के अनुसार – 'जैसे एक मकान की छत पर जाने के कई उपाय हैं, वैसे ही सभी अत्यन्त विरोधाभासी उक्तियाँ भी सत्य हैं।' यह तर्क निरर्थक है।"[१] जैसा कि स्पष्ट है, ऐसी भ्रान्त व्याख्याओं को गम्भीरता से लेने की आवश्यकता नहीं है।

तथापि, जो लोग श्रीरामकृष्ण के मोहक व्यक्तित्व के सात्त्विक प्रभाव-क्षेत्र में आये, उनके लिये उनके सान्निध्य में अनुभूत होनेवाला गूढ़ तथा आन्तरिक प्रभाव, किसी भी बौद्धिक शब्दजाल की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था। ऐसे सैकड़ों सम्पर्कों में एक की कथा का हम यहाँ वर्णन करने जा रहे हैं।

केशव ने "एक विचित्र ढंग से ईसा को सुकरात तथा चैतन्य से मिलाने का प्रयास किया था, जिसमें इनमें से प्रत्येक उनके शरीर अथवा मन का एक अंश था।" उनका अनुसरण करनेवाले शिक्षित युवक दक्षिणेश्वर के सन्त के काफी निकट आ गये थे। वस्तुत: इनमें से कुछ तो उनके बहुत ही घनिष्ठ हो गये थे। शिवनाथ शास्त्री भी ऐसे ही एक प्रतिभाशाली युवक थे। श्रीरामकृष्ण ने सभी युगों तथा सभी देशों के उदार भावों का प्रसार किया और शिवनाथ भी इसके प्रभाव में आये बिना न रह सके। शिवनाथ के एक विश्वसनीय चरित्रकार लिखते हैं – "शिवनाथ तथा श्रीरामकृष्ण के बीच जो अन्तरंग सम्बन्ध विकसित हुआ, वह शिवनाथ के जीवन पर एक अमिट छाप छोड़ गया। श्रीरामकृष्ण से उन्होंने विशेष रूप से धर्मों की सार्वभौमिकता सीखी।" श्रीरामकृष्ण के सम्पर्क में आकर उन्हें क्रमश: अनुभव हुआ कि धर्म एक ही है और उसके रूप अनेक तथा विभिन्न हैं। उनके द्वारा सिखाये गये धर्म में कोई भेदभाव नहीं था। उसमें प्रत्येक सम्प्रदाय के सत्य की सार्वभौमिक स्वीकृति और सहज तथा पूरे हृदय से अनुमोदन था।

शिवनाथ शास्त्री के समान एक उत्साही युवक के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे अपने भिन्न धर्मावलम्बी प्रिय मित्रों को श्रीरामकृष्ण के पास लाते और उनकी उदार शिक्षाओं से परिचित कराते। शिवनाथ द्वारा श्रीरामकृष्ण से परिचित कराये गये लोगों में हाई-चर्च के एक पादरी भी थे। ऐसा हाई-चर्चमैन, चर्च ऑफ इंग्लैंड का एक सदस्य होता है, जिसका ईसाई धर्माचार्यों तथा पुरोहितों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है; और जिसके मत को उक्त चर्च के उन सिद्धान्तों, अनुशासन तथा कर्मकाण्डों के निर्धारण में काफी महत्त्व दिया जाता है, जो यूरोप के काल्विनिस्टिक चर्चों तथा इंग्लैंड के प्रोटेस्टेंट चर्च से पृथक्, इंग्लैंड के चर्च को

विशिष्टता प्रदान करते हैं।

ऐसा ज्ञात होता है कि वे एल्गिन रोड, कोलकाता के सेंट मेरी चर्च के पादरी रेवरेंड हरिहर सान्याल थे। रेवरेंड सान्याल ने १ अक्तूबर १८५७ से ४ सितम्बर १८८७ में अपने मृत्यु तक इस चर्च के मुख्य पादरी के रूप में अपनी सेवाएँ प्रदान की थीं।[४] शिवनाथ ने रेवरेंड सान्याल को श्रीरामकृष्ण विषयक अपनी धारणा से अवगत करा रखा था। सान्याल मुग्ध हो गये थे और वे श्रीरामकृष्ण से मिलना चाहते थे। एक दिन वे अपने पड़ोसी शिवनाथ शास्त्री के साथ दक्षिणेश्वर आ पहुँचे। सम्भवत: १८७५ का वर्ष था, जबकि केशव चन्द्र सेन को श्रीरामकृष्ण से मिले हुए कुछ ही काल बीता था।

इस रोचक भेंट को लिपिबद्ध करनेवाले शिवनाथ शास्त्री ने कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि मुलाकात के प्रारम्भिक क्षणों में क्या हुआ ! श्रीरामकृष्ण की यह रीति थी कि सर्वप्रथम वे नवागन्तुक की आध्यात्मिक सम्भवनाओं का आकलन करते थे। परवर्ती घटनाओं के अध्ययन से यह निश्चित अनुमान लगाया जा सकता है कि नवागन्तुक इस मूल्यांकन में खरा उतरा था। श्रीरामकृष्ण की आयु उस समय उन्तालीस वर्ष थी और तब तक वे हिन्दू, ईसाई तथा इस्लाम धर्मों के विभिन्न भावों के माध्यम से ईश्वर की खोज का कार्य सफलतापूर्वक पूरा कर चुके थे। वे ईश्वर की प्रत्यक्ष तथा घनिष्ठ अनुभूति कर चुके थे। और अब वे अन्य साधकों की ईश्वरोन्मुखी तीर्थयात्रा में सहायता के कार्य में निरत थे। वे असाधारण प्रतिभा से सम्पन्न थे और उन्होंने विभिन्न धार्मिक मतवादों तथा साधनाओं में श्रद्धा रखनेवाले नर-नारियों के बीच संवाद की एक पद्धति का विकास कर लिया था।

शिवनाथ शास्त्री ने श्रीरामकृष्ण से कहा – "महाराज, मेरा एक ईसाई मित्र आपका दर्शन करने आया है। मेरे मुख से आपकी बातें सुनकर वह आपसे मिलने को बड़ा उत्सुक था।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण ने अपना सिर भूमि पर टेका और बोले – "मैं ईसा मसीह के चरणों में बारम्बार प्रणाम करता हूँ।"

इस उक्ति पर विस्मित होकर रेवरेंड सान्याल बोले – "महाशय, यह कैसी बात कि आप ईसा के चरणों में सिर नवा रहे हैं? आप उन्हें क्या समझते हैं?"

श्रीरामकृष्ण – "क्यों? मैं उन्हें एक अवतार के रूप में देखता हूँ।"

रेवरेंड सान्याल – "ईश्वर के अवतार ! क्या आप मुझे समझायेंगे कि इससे आपका क्या तात्पर्य है? क्या वे कृष्ण तथा उन्हीं के समान अन्य लोगों में से एक हैं?"

श्रीरामकृष्ण – "हाँ, ठीक वैसे ही। वे हमारे राम तथा कृष्ण के समान ही एक अवतार थे। क्या तुम्हें भागवत का वह श्लोक मालूम नहीं, जिसमें लिखा है विष्णु या परमात्मा के असंख्य अवतार हैं?"

रेवरेंड सान्याल – "कृपया इसे और भी समझाएँ, मैं इसकी ठीक से धारणा नहीं कर सका हूँ।"

श्रीरामकृष्ण – "अच्छा, समुद्र का ही उदाहरण लो। वह इतना विशाल है और उसमें जल का मानो अनन्त विस्तार दीख पड़ता है। परन्तु किन्हीं विशेष कारणों से इस विशाल समुद्र के कुछ विशेष हिस्सों का जल जमकर बर्फ में परिणत हो जाता है। बर्फ बन जाने पर इसे आसानी से सँभाला जा सकता है और विशेष कार्यों में लगाया जा सकता है। अवतार भी कुछ-कुछ उसी प्रकार है। पदार्थ तथा मन में भी, उस अनन्त जलराशि के समान ही अनन्त शक्ति छिपी हुई है, परन्तु किसी विशेष उद्देश्य से, किसी विशेष स्थान में, उस अनन्त शक्ति का एक अंश मानो इतिहास में एक साकार रूप धारण कर लेता है; और उसी को तुम लोग महापुरुष कहते हो। परन्तु सच कहें, तो वह सर्वव्यापी दिव्य शक्ति की एक स्थानीय अभिव्यक्ति, या दूसरे शब्दों में, ईश्वर का एक अवतार है। महापुरुषों की महानता मूलत: दिव्य शक्ति की अभिव्यक्ति मात्र है।"

रेवरेंड सान्याल – "मैं आपका भाव समझ गया, यद्यपि हम आपसे पूरी तौर से सहमत नहीं हैं।

इसके बाद रेवरेंड सान्याल शिवनाथ शास्त्री की ओर उन्मुख होकर बोले – "मैं यह जानना चाहूँगा कि हमारे ब्राह्म मित्रों का इस विषय में क्या कहना है।"

श्रीरामकृष्ण – "उन मूर्खों (ब्राह्मसमाजियों) की बात मत करो। उनके पास यह सब देखने के लिये दृष्टि नहीं है।"

शिवनाथ शास्त्री – "महाराज, आपको किसने कहा? हमारा विश्वास है कि मानव-जाति के महान् शिक्षकों की महानता एक दैवी अवदान है; और इस दृष्टि से वे लोग एक दिव्य भाव के अवतार हैं।"

श्रीरामकृष्ण – "तो क्या सचमुच ही तुम्हारा ऐसा ही विश्वास है? मुझे तो यह नहीं मालूम था।"

शिवनाथ शास्त्री लिखते हैं कि इसके बाद जो बातचीत हुई, उसके दौरान सन्त ने दृष्टान्तों के माध्यम से अपने सुपरिचित घरेलू पद्धति से बहुत-सी आध्यात्मिक बातें समझायीं, जो मेरे ईसाई मित्र के हृदय में प्रविष्ट हो गयीं और उन्होंने इन्हें विशेष महत्त्वपूर्ण माना।[६]

श्रीरामकृष्ण ने उनका हृदय जीत लिया। सहज भाषा में बतायी हुई उनकी व्याख्या इतनी प्रभावी थी कि जिन रेवरेंड सान्याल के शास्त्रीय ज्ञान में अवतार-तत्त्व के लिये कोई भी स्थान न था, उन्हें श्रीरामकृष्ण की सार्वभौमिक तथा उदार शिक्षाओं में पूर्ण विश्वास हो गया। धार्मिक विचारों के समस्त

(**शेष अगले पृष्ठ पर**)

सर्व जीवों में ब्रह्म-दर्शन

– श्रीरामकृष्ण

मैं उस ब्रह्म को प्रत्यक्ष देख रहा हूँ – फिर और क्या विचार करूँ ! देख रहा हूँ, वही यह सब कुछ बना है। वही जीव और जगत् बना है। किन्तु चैतन्य के जाग्रत हुए बिना चैतन्य-स्वरूप को जाना नहीं जा सकता। विचार कब तक किया जाता है? जब तक उसकी प्राप्ति नहीं हो जाती। ... उसकी कृपा से चैतन्य जाग्रत हो जाना चाहिए।

मैं काली-मन्दिर में पूजा करता था। एक दिन सहसा दर्शन हुआ – सब कुछ चेतन है – पूजा का अर्घ्यपात्र, वेदी, मन्दिर की चौखट – सब चेतन है ! मनुष्य, जीव, जन्तु – सब चेतन है। तब उन्मत्त की तरह चारों ओर पुष्पवृष्टि करने लगा ! जो कुछ दिखाई पड़ा उसी की पूजा करने लगा !

एक दिन पूजा के समय शिवलिंग पर वज्र चढ़ा रहा था, ऐसे समय दर्शन हुआ – यह विराट् ब्रह्माण्ड ही शिव है। तब से मेरा शिवलिंग गढ़कर पूजा करना बन्द हो गया। एक दिन फूल तोड़ रहा था। सहसा ... प्रत्यक्ष दर्शन हुआ – हर पौधा मानो उस विराट् मूर्ति पर शोभायमान हो रहा एक पुष्पगुच्छ है। उस दिन से मेरा फूल तोड़ना बन्द हो गया।

इस अवस्था में मुझे वास्तव में अनुभव होता है, प्रत्यक्ष दिखाई देता है – वे ही सब कुछ बने हैं। तब त्याज्य-ग्राह्य नहीं रह जाता। किसी के ऊपर क्रोध नहीं करते बनता।

बहुत दिन हुए, वैष्णवचरण ने कहा था, जब मनुष्य के भीतर ईश्वर के दर्शन होंगे, तभी पूर्ण ज्ञान होगा। अब देख रहा हूँ कि वे ही भिन्न-भिन्न रूपों में घूम रहे हैं। कभी साधु के रूप में, कभी ठग के रूप में, तो कभी शठ के रूप में। इसीलिए मैं कहता हूँ, 'साधुरूपी नारायण, ठगरूपी नारायण, शठरूपी नारायण, लुच्चारूपी नारायण।'

मैं देखता हूँ मानो पेड़-पौधे, मनुष्य, पशु, घास, पानी – सब तरह-तरह के तकिए के गिलाफ हैं। जैसे, तकिए के गिलाफ भिन्न-भिन्न होते हैं – कोई मोटे कपड़े का, कोई छींट का, तो कोई किसी और कपड़े का; कोई चौकोना, तो कोई गोल – पर सभी गिलाफों के भीतर एक ही पदार्थ – कपास भरा होता है, वैसे मनुष्य, पशु, घास, पानी, पहाड़-पर्वत – सभी रूपों के भीतर वही एक अखण्ड सच्चिदानन्द विद्यमान है। मैं बिलकुल स्पष्ट देखता हूँ, माँ मानो तरह-तरह की चादरें ओढ़कर विभिन्न रूपों में सजकर भीतर से झाँक रही हैं। एक ऐसी अवस्था हुई थी, जब सर्वदा ऐसा ही दिखाई देता था। मेरी उस अवस्था को न समझ पाने के कारण लोग मुझे समझाने-बुझाने, शान्त करने आए। रामलाल की माँ और अन्य महिलाएँ कितनी ही बातें कहती हुई रोने लगीं। उनकी ओर देखकर मुझे यही दिखने लगा कि माँ जगदम्बा स्वयं ही इन रूपों को धारण कर ऐसा कर रही है। माँ का यह ढोंग देखकर मैं हँसते-हँसते लोट गया। ... एक दिन काली-मन्दिर में आसन पर बैठकर माँ का ध्यान कर रहा था, पर बहुत चेष्टा करके भी मन में माँ की मूर्ति को नहीं ला सका। फिर देखा – रमणी नाम की एक वेश्या जो घाट पर स्नान करने आया करती थी, उसी का रूप धारण कर माँ पूजा के घट की ओट से झाँक रही है। देखकर मैं हँसते हुए कहने लगा, 'वाह वाह, आज तुझे रमणी बनने की इच्छा हुई? बहुत अच्छा, आज इसी रूप में पूजा ग्रहण कर।' इस तरह माँ ने मुझे समझा दिया, 'वेश्या भी मैं ही हूँ; मेरे सिवा कुछ नहीं है।' गाड़ी में बैठकर जा रहा था – एक जगह दो वेश्याएँ खड़ी थीं। देखा, साक्षात् भगवती हैं; प्रणाम किया।

❑❑❑

पिछले पृष्ठ का शेषांश

मतवादों में उन्हें श्रीरामकृष्ण के विचार सर्वाधिक उदार प्रतीत हुए, क्योंकि उसमें सभी मतों की सत्यता स्वीकृत हुई थी और वह इस तथ्य पर आधारित था कि किसी भी प्रकार की सच्ची साधना अन्तत: परम सत्य की अनुभूति तक ले जाती है। और श्रीरामकृष्ण के ये विचार किसी दार्शनिक ऊहापोह पर नहीं, अपितु उनकी अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों पर आधारित थे; अत: इसकी शक्ति को अस्वीकार करने की क्षमता भला किसमें थी?

रेवरेंड हरिहर सान्याल एक रूपान्तरित दृष्टिकोण के साथ दक्षिणेश्वर से विदा हुए। श्रीरामकृष्ण का प्रभाव उन शरत्कालीन ओस-कणों के समान उनके अन्तर में क्रियाशील रहा, जो गुलाब की कलियों में छिपी हुई गरिमा को क्रमशः अभिव्यक्त कर डालती है।

सन्दर्भ-सूची –

१. Swami Vivekananda and his Guru (1897), published by The Christian Literature Society of India, pp. 18-19

२. Romain Rolland : The Life of Ramakrishna, published by Advaita Ashram, Mayavati, p. 132.

३. हेमलता देवी, शिवनाथ-जीवनी (बँगला), पृ. १४६

४. श्री सतीकुमार चट्टोपाध्याय द्वारा इस विषय पर किये गये शोध-कार्य के लिये वर्तमान लेखक उनका आभारी है।

५. शिवनाथ शास्त्री कृत (क) 'Men I have seen': प्रकाशक – साधारण ब्राह्मसमाज, पृ. ६९-७० तथा (ख) 'आत्मचरित' (बँगला), प्रकाशक – सिगनेट प्रेस, कलकत्ता-२०, पृ. १२७-२८

६. शिवनाथ शास्त्री, 'Men I have seen', पृ. ७१

❖ (क्रमशः) ❖

साध्वी सुकन्या

स्वामी सत्यरूपानन्द

महाराज शर्याति उदरशूल से पीड़ित थे। वन विहार और आखेट के लिये आये राजा अकस्मात् अस्वस्थ हो गये। सेविकायें राजवैद्य के शिविर में दौड़ पड़ीं। किन्तु यह क्या ! राजवैद्य स्वयं उदरशूल से पीड़ित थे। मलमूत्रावरोध से उन्हें बड़ा कष्ट हो रहा था। शिविर में चारों ओर कुहराम-सा मचा था। मंत्री, सेनापति, सेवक, भाट, सैनिक सभी एक साथ ही विचित्र रोग से पीड़ित थे। राजा की सम्पूर्ण सेना विपत्ति में थी।

बड़े कष्ट से एक वृद्ध पुरोहित महाराज के समीप आये। उन्होंने निवेदन किया – ''महाराज ! इस वन में किसी स्थान पर परम तेजस्वी भृगुनन्दन च्यवन तपस्या करते हैं। किसी के द्वारा जाने-अनजाने उनके प्रति कोई अपराध हो गया है। मेरा अनुमान है कि इसी अपराध के फलस्वरूप सारी सेना इस यंत्रणादायक रोग की शिकार बन गई है, तथा आप स्वयं भी कष्ट पा रहे हैं। इस कष्ट से त्राण पाने के लिये शीघ्र ही यह पता लगाया जाय कि कहीं किसी के द्वारा ऋषि के प्रति अपराध तो नहीं हुआ है। यदि हुआ है तो उस अपराधी का पता लगाकर ऋषि प्रवर से क्षमा याचना की जाय।''

सारे सैनिक, सेनापति, मंत्री आदि राजा के शिविर के सम्मुख उपस्थित हुये। महाराज शर्याति ने स्वयं सबसे पूछा कि जाने-अनजाने में किसी के द्वारा ऋषि के प्रति कोई अपराध तो नहीं हुआ है। किन्तु सभी ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया कि उन्होंने इस समूचे वन्य प्रदेश में किसी भी तपस्वी ऋषि-मुनि को नहीं देखा है और न इस वनस्थली में कोई आश्रम ही देखा है। फिर भला कैसे किसी से ऋषि का अपराध हो सकता है?

महाराज शर्याति की कोमलांगिनी पुत्री सुकुन्या भी दुखित हो रही थी। उस विवाद के क्षणों में उसे स्मरण हो आया कि कल प्रात:काल की ही तो बात है, वह अपनी सहेलियों के साथ खेलने के लिये वन से दूर निकल गई थी। आनन्द विभोर हो, वह फूल तोड़ती, उन्हें मसलती, वृक्षों की छोटी-छोटी टहनियों को तोड़ती अकेली ही वन में दूर तक चली गई थी। वहाँ उसे दीमक की एक बड़ी बाँबी दिखी थी। कौतूहलवश वह घूम-घूमकर उसे चारों ओर से देखने लगी। हाठात् उसकी दृष्टि बाँबी के भीतर जुगनू की भाँति चमकती हुई किन्हीं दो वस्तुओं पर पड़ी। सुकुन्या को यह जानने की उत्सुकता हुई कि वे चमकीली वस्तुयें क्या हैं। उसने चारों ओर दृष्टि दौड़ाई। पास ही बेल का एक विशाल वृक्ष था। उसके नीचे के बेल के कुछ सूखे काँटे पड़े थे। राजकुमारी ने उनमें से एक बड़ा-सा काँटा उठा लिया और जिज्ञासावश उन चमकीली वस्तुओं को बींध दिया। उनमें थोड़ा रक्त भी निकाला था। काँटे भी रक्त से भींग गये थे। यह देख सुकन्या सहम गई और वहाँ से भाग आई थी।

राजकुमारी की विचारधारा टूटी। वह अपनी पिता महाराज शर्याति के पास आयी और उनसे कहा ''पिताजी, कल प्रात: मैं अपनी सखियों के साथ वन में खेल रही थी। वहाँ मुझे दीमक की एक बड़ी बाँबी दिखी। मैं उसे उत्सुकतावश चारों ओर से देख रही थी कि उसमें मुझे जुगनु की भाँति चमकती हुई दो वस्तुयें दिखीं। मैंने उसे बेल के सूखे काँटों से बींध दिया था। उनसे थोड़ा रक्त भी निकला था।''

पुत्री की बात सुनकर राजा अपने मंत्रियों और सेवकों के साथ उस स्थान पर गये जहाँ वह दीमक की बाँबी थी। सुकुन्या भी साथ थी। उन्होंने देखा, उस सूखी बाँबी में अभी भी रक्त के चिन्ह शेष हैं। राजा ने आज्ञा दी कि सावधानी पूर्वक उस बाँबी को तोड़कर देखा जाय कि उसके भीतर क्या है। सैनिकों ने सावधानी से उस बाँबी को तोड़ा। सभी ने साश्चर्य विस्फारित नेत्रों से देखा कि उस बाँबी के भीतर एक कृषकाय तपस्वी ध्यान मुद्रा में बैठे हैं। उनके नेत्रों से रक्त की धारा बहकर उनके कपोलों पर सुख गई है।

महाराज शर्याति ने प्रणिपात कर निवेदन किया, ''भृगुनन्दन ! महर्षे ! दया कीजिये। भगवन् ! आपके कोप से सारी सेना दुख से कराह रही है। सभी के प्राण संकट में है।'' आप ही की कृपा से हमारे प्राणों की रक्षा हो सकती है।'' राजा के साथ-साथ सेनापति एवं मंत्रियों ने भी कातर प्रार्थना की।

महर्षि च्यवन ने आक्रोश पूर्ण स्वर में प्रश्न किया, ''किसने मेरी आँखों को बींधा है?''

ऋषि की गम्भीर वाणी सुनकर क्षण भर के लिये सभी काँप उठे। राजा ने साहसपूर्वक अपना परिचय दिया और कहा, ''भगवन, भूल से मेरी अबोध पुत्री सुकुन्या द्वारा यह अपराध हो गया है। वह भी यहाँ उपस्थित है तथा आपसे अपने अपराध के लिये क्षमा माँग रही है। इस अबोध बालिका पर दया कीजिये।''

ऋषि च्यवन की गम्भीर वाणी गूँज उठी, ''राजन् ! इस अपराध का तुम्हारी पुत्री को प्रायश्चित करना होगा। कहो, क्या तुम उससे प्रायश्चित करवाने के लिये प्रस्तुत हो?''

भयविनीत राजा ने दीन स्वर में कहा, ''भगवन् जैसी आपकी आज्ञा।''

च्यवन की मुख मुद्रा गम्भीर हो उठी। बोले, ''राजन् !

तुम्हारी पुत्री ने मुझे अन्धा कर दिया है। अब मुझे आजीवन एक ऐसे सेवक की आवश्यकता होगी जो दिन रात मेरी सेवा में रह सके। अत: तुम अपनी पुत्री को मुझे पत्नी के रूप में दे दो।''

शर्याति पर मानो वज्रपात हो गया। उनकी आँखों के सामने अंधेरा छा गया। उनकी चार सौ रानियों में एकमात्र प्राप्त सन्तान उनकी प्राण प्रिया, पुत्री सुकुन्या का विवाह एक वृद्ध, मात्र अस्थिचर्म शेष, निर्धन तपस्वी के साथ हो! शर्याति का कण्ठ सूख गया। उनकी वाणी जकड़ गयी।

सुकुन्या पास ही खड़ी थी। उसने भी ऋषि की बात सुन ली। पिता की दयनीय दशा, सेना का भीषण कष्ट वह स्वयं अपनी आँखों से देख रही थी। वह जानती थी कि वही इस विपत्ति का कारण है तथा उसके ही पास इस विपत्ति के निवारण का उपाय भी है। उसका निर्णय महाराज शर्याति तथा उनकी प्रजा के भाग्य का निर्णय था। एक ओर प्रजा और पिता का यह कष्ट था और दूसरी ओर थी जीवन के सभी सुखों की सदैव के लिये आहुति-वृद्ध ऋषि की सेवा में वन-वासिनी होकर जीवन पर्यन्त तिल-तल कर जलना।

राज वैभव में पली महाराज शर्याति की एक मात्र कन्या, जिसने अभी ही यौवन की देहलीज पर पाँव रखे थे, जिसे राजमहल में तिनका भी उठाने का अभ्यास नहीं था, सैकड़ों दासियाँ जिसके संकेत पर सेवा के लिये प्रस्तुत रहती थीं, उसे ही अब वनवासिनी होकर एक अंधे तपस्वी की अहर्निश सेवा का व्रत लेना होगा! एक ओर कर्त्तव्य और धर्म का आह्वान था तो दूसरी ओर राज वैभव और ऐश्वर्य भोग का प्रबल प्रलोभन। इस द्वन्द्व में से सुकुन्या को अपने भावी जीवन का निर्णय करना था।

मनुष्य का जीवन ऐसी ही संक्रान्तियों में से होकर गुजरता है। संक्रान्ति के क्षणों में व्यक्ति द्वारा लिया गया निर्णय उसके चरित्र की परीक्षा होती है। अंत:करण में जब त्याग और भोग का, श्रेय ओर प्रेय का, कर्तव्य और अकर्तव्य का भीषण द्वन्द्व चलता है, तब मन की गहराईयों में छिपे चिर संचित संस्कार प्रकट होते हैं। इनमें से शुभ-अशुभ, उच्च-निम्न सभी प्रकार के संस्कार होते हैं। इन संस्कारों की प्रबलता ही हमें त्याग अथवा भोग, श्रेय अथवा प्रेय, कर्तव्य अथवा अकर्तव्य के पक्ष या विपक्ष में निर्णय लेने को बाध्य करती है। यदि हमने दैनन्दिन जीवन के छोटे-छोटे कार्यों और व्यवहारों में अशुभ के स्थान पर शुभ का चयन किया है, भोग के बदले त्याग का वरण किया है और प्रमाद के बदले कर्त्तव्य को स्वीकार किया है, तो जीवन के कठिन संक्रान्ति-काल में भी हम भोग के बदले त्याग का, प्रेय के बदले श्रेय का और प्रमाद के बदले कर्त्तव्य का ही वरण करते हैं। फिर इस चयन में यदि जीवनाहुति भी देनी पड़े तो ऐसा व्यक्ति उसे सहर्ष स्वीकार कर लेता है। उसके मन के शुभ सात्विक संस्कार उसे इतना प्रचण्ड मानसिक सामर्थ्य प्रदान करते हैं कि विश्व की कोई भी बाधा, कोई भी प्रलोभन उस व्यक्ति को कर्त्तव्यच्युत नहीं कर सकता। उसका चरित्र इतना दृढ़ एवं स्थिर हो जाता है कि उसे स्खलित नहीं किया जा सकता। वह अजेय हो जाता है।

राजकुमारी सुकन्या के त्याग और कर्त्तव्य परायणता की कठिन परीक्षा की घड़ी थी। उसके भी अन्तर्मन के संस्कार प्रबल हो उठे थे। आज उसे अन्तिम निर्णय करना था। त्याग अथवा भोग के जीवन का सदैव के लिये वरण करना था। सुकुन्या ने बाल्यावस्था से ही यत्नपूर्वक अपने हृदय में शुभ संस्कारों को संचित करने का प्रयास किया था। इससे उसे प्रबल शक्ति प्राप्त हुई।

सुकुन्या ने उन्नत मस्तक हो दृढ़तापूर्वक निर्णयात्मक स्वर में कहा, ''पिताजी! आप ऋषि प्रवर च्यवन को स्वीकृति दे दीजिये। मुझे आजन्म उनकी सेवा का व्रत स्वीकार है। मैं उन्हें पति रूप में सहर्ष वरण करती हूँ।''

सुकुन्या का अभूतपूर्व त्याग और कर्त्तव्य परायणता देखकर सभी लोग धन्य-धन्य कह उठे। निरीह राजा शर्याति की चेतना मानो लौट आई। उन्होंने अश्रुपूर्ण नेत्रों से अपनी प्राण प्यारी पुत्री को गले से लगा लिया। उनका हृदय फटा जा रहा था। आँखों से अविरल आँसुओं की धारा बह रही थी। गला रूँध गया था। सुकुन्या ने पिता आश्वस्त किया। पुरोहित आये। यज्ञ सामग्री एकत्रित की गई और शास्त्रोक्त विधि से सुकन्या का च्यवन के साथ विवाह कर दिया गया।

राजा, मंत्री आदि सभी ऋषि कोप से होनेवाली पीड़ा से अवश्य ही मुक्त हो गये। किन्तु उस पीड़ा से मुक्ति पाने के लिय उन्हें जो महान् मूल्य चुकाना पड़ा था उसके दुख से सभी पीड़ित थे।

अपनी प्यारी पुत्री को ऋषि के हाथों में सौंपकर महाराज शर्याति उदास मन से अपनी राजधानी की ओर चल पड़े। अपनी बिलखती सखियों और दासियों को बिदाकर सुकन्या अपने अन्धे और वृद्ध पति की सेवा में लग गई। पास ही एक नदी थी। उसने तट पर एक छोटी-सी कुटिया बनाई। उसमें उसने अंधे पति की सुविधा के लिये यथासाध्य सभी व्यवस्थायें कर दीं। पति के जीवन के अनूकूल उसने अपना जीवन भी तपोमय कर लिया। वह पति के यज्ञ आदि कार्यों में सदैव उनके साथ रहती। उसने पूजन यज्ञ आदि करवाती। जब वे विश्राम करते तो वन में जाकर फल-फूल समिधा आदि एकत्र कर लाती और शेष समय भगवच्चिन्तन में लगा देती।

पत्नी की सेवा-शुश्रुषा से ऋषि च्यवन प्रसन्न थे। उनके दिन आनन्दपूर्वक बीत रहे थे। एक दिन सुकुन्या नदी में जल लेने गई थी। वहाँ उस समय देवताओं के वैद्य दोनों अश्विनी

कुमार भी आये थे। उस बीहड़ वन में विद्युल्लता सी चमकती सुन्दरी को देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उसका परिचय जानने के लिये वे उत्सुक हो उठे। उन्होंने उससे पूछा, "सुन्दरी, तुम कौन हो? इस एकान्त जनहीन वन में तपस्विनी के वेश में तुम किसकी सेवा में रहती हो?"

सकुचाती सुकन्या ने नीची दृष्टि किये हुये संक्षिप्त-सा उत्तर दिया, "देवगण, मैं महाराज शर्याति की पुत्री तथा महर्षि च्यवन की पत्नी हूँ। मेरा नाम सुकुन्या है।"

देववैद्यों ने व्यंगात्मक ढंग से हँसते हुए कहा, "सुमुखी, तुम उस अस्थिचर्ममय बूढ़े तपस्वी की पत्नी हो! तुम्हारे बुद्धिमान पिता ने भला उस बूढ़े से तुम्हारा ब्याह क्यों किया? क्या उन्हें तुम्हारे योग्य कोई राजकुमार न मिल सका?"

सुकन्या का मुख रोष से रक्तिम हो उठा। वह बोली, "सुर वैद्यों! आपको विदित होना चाहिये कि मैंने स्वेच्छा से महर्षि च्यवन को अपना पति स्वीकार किया है।"

अश्विनी कुमारों ने सुकुन्या को प्रलोभित करने के उद्देश्य से कहा, "भामिनी! तुमने स्वेच्छा से अपने यौवन को व्यर्थ करने का व्रत भला क्यों लिया? तुम्हारा सौन्दर्य देव दुर्लभ है। तुम इच्छा मात्र से स्वर्ग के सभी सुखों का भोग कर सकती हो। तुम चाहो तो हम दोनों में से किसी एक को पतिरूप में स्वीकार कर स्वर्ग के सुख-भोगों की अधिकारिणी हो सकती हो।"

सुकुन्या ने दृढ़तापूर्वक कहा, "देवगण! जिस प्रकार कदली वृक्ष में एक ही बार फल लगता है, उसी प्रकार आर्य कन्या भी जीवन में एक ही बार पति का वरण करती है। मैंने अपना जीवन महर्षि च्यवन की सेवा में अर्पित कर दिया है। मैं उनके अतिरिक्त अन्य किसी पुरुष के सम्बन्ध में सोच भी नहीं सकती।"

प्रत्यक्ष प्रलोभन से सुकुन्या को प्रभावित होते न देख, देव वैद्यों ने उसके साथ छल करने का निश्चय किया। उन्होंने कहा, 'सुन्दरी, हम देवताओं के चिकित्सक हैं। हमारे पास ऐसी औषधि है कि हम तुम्हारे वृद्ध पति को यौवन प्रदान कर सकते हैं, उन्हें नेत्र ज्योति दे सकते हैं। किन्तु उसके लिये एक शर्त है। वह यह कि तुम्हारे पति को यौवन प्राप्त होने के पश्चात् तुम हम तीनों में से किसी एक का वरण कर लोगी।"

तपस्विनी सुकुन्या के मन में भी नारीत्व एवं पत्नीत्व की सुखद कल्पनायें आलोड़ित हो रही थी। पति की यौवन-प्राप्ति की आशा ने उसकी कल्पनाओं के संसार को जगा दिया। उसने मन-ही-मन निश्चय किया कि वह अवश्य ही इस परीक्षा में प्रस्तुत होगी। उसे दृढ़ विश्वास था कि उसका अविचल सतीत्व उसकी रक्षा करेगा। यौवन प्राप्ति के पश्चात् भी वह अपने पति च्यवन का ही वरण करेगी।

उसने सुरवैद्यों से कहा, "देवगण! आप यहाँ प्रतीक्षा करें। मैं अपने स्वामी से आपका प्रस्ताव निवेदित करूँगी। यदि उन्हें वह प्रस्ताव स्वीकार होगा तो मैं उन्हें लेकर यहाँ आऊँगी।"

यह कहकर सुकन्या आश्रम की ओर चल पड़ी। आश्रम पहुँचकर सुकुन्या ने पति से देवगणों का प्रस्ताव निवेदित किया। महर्षि च्यवन को पत्नी की मनोदशा समझते देर न लगी। उन्होंने समझ लिया कि उसका नारी हृदय, नारी की परिपूर्णता-मातृत्व के लिये लालायित है। पति के पास यौवन प्राप्ति का प्रस्ताव इसी इच्छा का प्रकाशन मात्र ही तो था। वृद्ध ऋषि च्यवन ने पत्नी की भावनाओं का ध्यान रखकर अनुमति दे दी। सुकन्या खिल उठी। वह अंधे पति को सहारा देकर देव वैद्यों के पास ले आई। अश्विनी कुमारों ने ऋषि च्वयन को कुछ औषधि दी तथा उन्हें अपने साथ लेकर नदी के जल में उतर गये। सुकन्या तट पर ही खड़ी-खड़ी यह सब देखती रही। थोड़ी देर में अश्विनी कुमारों ने ऋषि को साथ लेकर जल में डुबकी लगाई। कुछ क्षणों पश्चात सुकन्या ने आश्चर्य-विस्फारित नेत्रों से देखा कि जल के भीतर से अत्यन्त रूपवान् सर्वथा एक समान ही दिखने वाले तीन युवक बाहर आ रहे हैं। क्षण भर के लिये तो उसे अपने आप पर विश्वास ही न हुआ।

आश्चर्य विमूढ़ सुकन्या को सम्बोधित करते हुये उनमें से एक ने कहा, "देवि! तुम हममें से किसी एक को अपने पति के रूप में स्वीकार कर लो।"

सुकन्या धर्मसंकट में पड़ गई। तीनों युवक एक ही रूप-रंग के थे। वह कैसे निर्णय करे कि उसके पति ऋषि च्यवन कौन हैं? भय एवं निराशा से उसका मन काँपने लगा। क्या पुन: उसके सतीत्व की परीक्षा हो रही है? कहीं ऐसा न हो कि अज्ञानवश वह देववैद्यों में से एक को अपना पति चुन ले और उसका सतीत्व नष्ट हो जाय।

उसने मन ही मन भगवान से कातर-प्रार्थना की – "प्रभो! मेरी लाज रखो। मेरे सतीत्व की रक्षा करो! मुझे इस परीक्षा में उत्तीर्ण करो।" भगवान ने उसकी प्रार्थना सुन ली। देव वैद्यों ने अपने-अपने चिह्न धारण कर लिये और अपना रूप प्रकट कर दिया। सुकुन्या ने आदरपूर्वक उन्हें प्रणाम किया और अपने यौवन प्राप्त पति के साथ आनन्द विह्वल हो आश्रम की ओर चल पड़ी।

सुकुन्या का चरित्र कर्त्तव्य निष्ठा एवं पति-परायणता का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। सुखी दाम्पत्य जीवन तथा सुदृढ़ और समृद्ध समाज की रचना में गृहिणी का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। महाभारत में वर्णित सुकन्या का यह उज्जवल चरित्र आज भी हमारी ललनाओं को प्रेरणा देने के लिये पर्याप्त है।

J J J

प्रयाग में स्वामी विवेकानन्द (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(अपनी प्रारम्भिक यात्राओं के दौरान स्वामी विवेकानन्द का इलाहाबाद में भी आगमन हुआ था। प्रस्तुत है सविस्तार विवरण। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द का प्रयाग-आगमन विचित्र परिस्थितियों में हुआ। उनका वहाँ जाना पूर्व-नियोजित नहीं, बल्कि अप्रत्याशित रूप से हुआ था। मानो तीर्थराज प्रयाग तथा माता त्रिवेणी ने उन्हें स्वयं ही बुला लिया था। यह घटना कई दृष्टियों से ऐतिहासिक सिद्ध हुई। वहीं से वे सुप्रसिद्ध सन्त पवहारी बाबा से मिलने गाजीपुर गये। परवर्ती काल में उन्होंने अपने गुरुभाई स्वामी विज्ञानानन्द को वहाँ एक केन्द्र स्थापित करने भेजा और अपनी महासमाधि के बाद 'ब्रह्मवादिन-क्लब' में उन्हें एक अलौकिक दर्शन दिया।

स्वामीजी की तीर्थयात्रा की आकांक्षा

१८८९ ई. के उत्तरार्ध में स्वामीजी के कई गुरुभाई हिमालय में और कुछ अन्य स्थानों में तपस्या कर रहे थे। स्वामीजी के मन में भी वराहनगर मठ (कोलकाता) से तीर्थ-यात्रा के लिये निकलने की लालसा प्रबल हो रही थी। वर्ष के पूर्वार्ध में वे आँटपुर, कामारपुकुर, शिमुलतला आदि स्थानों का भ्रमण कर आये थे और उत्तरार्ध में उन्होंने कई पत्र लिखकर वाराणसी के प्रमदादास मित्र को सूचित किया कि वे शीघ्र ही वहाँ आ रहे हैं। परन्तु किसी-न-किसी कारणवश उनकी यात्रा टलती रही। आखिरकार दिसम्बर के अन्त में वे तीर्थयात्रा हेतु निकल पड़े और सर्वप्रथम **वैद्यनाथ-धाम** पहुँचकर कुछ दिन वहाँ निवास किया। वहीं से **२५ दिसम्बर** को उन्होंने प्रमदा बाबू को सूचित किया, "दो-एक दिनों में ही मैं पुनीत काशीधाम में आपके चरणों के समीप उपस्थित हो सकूँगा।... वहाँ कुछ दिन रहने की अभिलाषा है और देखना है कि मुझ जैसे मन्दभाग्य के लिए भगवान विश्वनाथ तथा माता अन्नपूर्णा क्या करती हैं।" पर विश्वनाथ का विधान कुछ और ही था। वैद्यनाथ धाम में ही उन्हें सूचना मिली कि उनके गुरुभाई स्वामी योगानन्द प्रयाग में चेचक से ग्रस्त हैं, अत: तत्काल प्रयाग जाना पड़ा।

योगानन्द जी की रुग्णता

उसी वर्ष स्वामीजी के एक गुरुभाई स्वामी योगानन्द तीर्थ-भ्रमण को निकले थे। वे वैद्यनाथ, गया, चित्रकूट, ओंकारेश्वर आदि तीर्थों की यात्रा के बाद प्रयाग में आकर चेचक से आक्रान्त हो गये। उनके साथ स्वामी निरंजनानन्द भी थे। योगेन-माँ तथा गोलाप-माँ भी प्रयाग में ही थीं। सम्भवत: ये चारों संगम-क्षेत्र में कल्पवास[1] करने आये थे। स्वामी योगानन्द तथा निरंजनानन्द वहाँ चौक मुहल्ले में स्थित गोविन्द चन्द्र वसु के मकान में और योगेन-माँ और गोलाप-माँ सम्भवत: संगम-क्षेत्र में ठहरे हुए थे। योगानन्द के रोग का संवाद पाकर स्वामीजी के शिष्य सदानन्द और वे स्वयं भी तत्काल वहाँ आ पहुँचे। सौभाग्यवश उनकी बीमारी बढ़ी नहीं। उन्हें छोटी चेचक हुई थी और तब तक प्राय: ठीक हो चुकी थी। तथापि इसी घटना के चलते ही स्वामीजी का प्रयाग में शुभ पदार्पण हुआ था। वे दिसम्बर (१८९०) के अन्तिम सप्ताह में प्रयाग पहुँचे और जनवरी (१८९१) के पूरे तीन सप्ताह वहीं निवास किया था। यह तीर्थयात्रा उनके मानस-पटल पर चिर काल के लिये एक अमिट छाप छोड़ गयी।

प्रयाग से पाँच पत्र

स्वामीजी के प्रयाग-निवास के दौरान उनके द्वारा ३०-३१ दिसम्बर, १८८९ तथा ५ जनवरी, १८९० को लिखित कुल ५ पत्र मिलते हैं।[2] इसके बाद २४ जनवरी के पत्र में वे लिखते हैं – "तीन दिन हुए मैं सकुशल गाजीपुर पहुँच गया।" इससे लगता है कि सम्भवत: २१ जनवरी को उन्होंने प्रयाग से विदा ली थी। ये पाँचों पत्र बँगला भाषा में हैं। उनसे स्वामीजी के प्रयाग-प्रवास तथा उनकी तत्कालीन मन:-स्थिति की यथार्थ जानकारी मिलती है। उनका अविकल हिन्दी अनुवाद यहाँ प्रस्तुत है –

(१) श्रीयुत बलराम बोस को

पूज्यपाद, ३० दिसम्बर, १८८९

गुप्त (स्वामी सदानन्द) आते समय एक पर्ची छोड़ गया था और दूसरे दिन मुझे योगेन (स्वामी योगानन्द) के पत्र से सारी बातें मालूम होने पर मैंने तत्काल इलाहाबाद के लिये प्रस्थान किया। अगले दिन यहाँ पहुँचकर मैंने पाया कि योगानन्द अब पूरी तौर से स्वस्थ हो गया है। उसे छोटी चेचक हो गयी थी और कुछ दाने निकल आये थे। डॉक्टर अत्यन्त सज्जन व्यक्ति हैं और उनकी एक टोली जैसी है। ये

१. प्रयाग में गंगा-यमुना के संगम पर प्रतिवर्ष माघ के महीने में हजारों साधक एकत्र होकर वहाँ पूरे महीने निवास करते हैं और संयम, सत्संग तथा साधना में काल-यापन करते हैं, इसी को कल्पवास कहते हैं।

२. विवेकानन्द साहित्य, भाग १, पृ. ३४८-३५१

सभी लोग बड़े भक्त और साधु-सेवा-परायण हैं। इन लोगों का हठ है कि मैं माघ का महीना यहीं बिताऊँ, पर मैं तो वाराणसी जा रहा हूँ। **गोलाप-माँ** तथा **योगीन-माँ** यहाँ कल्पवास[२] करेंगी; **निरंजन** (स्वामी निरंजनानन्द) भी शायद यहीं रहेगा और **योगानन्द** क्या करेगा मैं नहीं जानता।

आप कैसे हैं? आपके तथा आपके परिवार के मंगल के लिये मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ। कृपया तुलसीराम, चुनी बाबू आदि को मेरा नमस्कार आदि कहेंगे। – आपका, नरेन्द्रनाथ

(२) श्रीयुत प्रमदादास मित्र को

पूज्यपाद, ३१ दिसम्बर, १८८९

मैंने आपको लिखा था कि दो-एक दिनों में ही मैं वाराणसी पहुँच रहा हूँ, पर विधाता के विधान को कौन टाल सकता है? मुझे समाचार मिला कि योगेन्द्र नामक मेरे एक गुरुभाई चित्रकूट, ओंकारनाथ आदि स्थानों का दर्शन करने के बाद यहाँ आकर चेचक से ग्रस्त हो गये हैं। अत: उनकी सेवा करने के लिए मैं यहाँ आ पहुँचा। मेरे गुरुभाई अब पूर्णत: स्वस्थ हो चुके हैं। यहाँ के कुछ बंगाली सज्जन अत्यन्त धर्मनिष्ठ तथा अनुरागी हैं। ये मेरा खूब आदर-यत्न कर रहे हैं और इन लोगों का विशेष आग्रह है कि माघ महीने में मैं यहीं कल्पवास करूँ। परन्तु मेरा मन वाराणसी के लिए अत्यन्त व्याकुल तथा आपसे मिलने के लिए बड़ा चंचल हो उठा है। मैं प्रयास कर रहा हूँ कि दो-चार दिनों में ही इन लोगों के आग्रह को शान्त करके काशीपुरपति के पवित्र राज्य में पहुँच सकूँ। अच्युतानन्द सरस्वती नामक मेरे कोई गुरुभाई यदि आपके पास मेरे बारे में पूछताछ करने जायँ, तो कृपया उनसे कहें कि मैं शीघ्र ही वाराणसी आ रहा हूँ। वे बड़े सज्जन तथा विद्वान् व्यक्ति हैं और मैं बाध्य होकर उन्हें बाँकीपुर छोड़ आया था। राखाल तथा सुबोध क्या अब तक वाराणसी में ही हैं? इस वर्ष का कुम्भ-मेला क्या हरिद्वार में होगा या नहीं, कृपया सूचित कीजियेगा। अधिक क्या लिखूँ!

बहुत-से स्थानों में अनेक ज्ञानी, भक्त, साधु तथा विद्वानों से मेरी भेंट हुई। बहुत-से लोग मुझसे बड़ा लगाव रखते हैं, परन्तु 'भिन्नरुचिर्हि लोक: (रघुवंश)' – भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों से युक्त इस संसार में – आपके प्रति मेरे चित्त का बड़ा आकर्षण है – इतना अच्छा मुझे और कहीं भी नहीं लगता। देखूँ काशीनाथ क्या करते हैं! – आपका, नरेन्द्रनाथ

मेरा पता – मार्फत गोविन्द चन्द्र वसु, चौक, इलाहाबाद

(३) श्रीयुत बलराम बोस को

प्रिय महाशय, ५ जनवरी १८९०

आपके कृपापत्र से आपकी बीमारी का समाचार पाकर मुझे बड़ा दु:ख हुआ। जलवायु-परिवर्तन हेतु आपके वैद्यनाथ आने के बारे में जो मैंने लिखा था, उसका सारांश यह है कि आपके जैसे दुर्बल तथा नाजुक शरीरवाले व्यक्ति के लिये काफी खर्च किये बिना वहाँ रह पाना असम्भव है। यदि आपके लिये जलवायु-परिवर्तन नितान्त आवश्यक हो और यदि किसी सस्ती जगह की खोज में ही आपने इतना विलम्ब किया हो, तो यह नि:सन्देह खेद की बात है। ...

वैद्यनाथ की वायु तो बड़ी अच्छी है, पर जल खराब है। इससे पेट में गड़बड़ी हो जाती है। मेरे पेट में वहाँ रोज ही एसिडिटी (अम्लता) हो जाती थी। इसके पूर्व मैंने आपको एक पत्र लिखा है, वह आपको मिला है या फिर उसके बैरंग होने के कारण उसे लौटा दिया है? यदि आपको जलवायु-परिवर्तन हेतु जाना ही है, तो शुभस्य शीघ्रम्। नाराज मत होइयेगा – आप अपने स्वभाव के अनुसार सर्वदा 'ब्राह्मण की गाय'[३] ही ढूँढ़ते रहते हैं। परन्तु खेद की बात है कि इस संसार में ऐसा संयोग सर्वदा नहीं होता। **आत्मानं सततं रक्षेत्** – हर परिस्थिति में अपनी रक्षा करते रहना चाहिए। यह ठीक है कि प्रभु की कृपा से ही सब होता है, तथापि वे स्वयं की सहायता करनेवाले (उद्यमी) की सहायता करते हैं। आप यदि केवल मितव्ययिता ही चाहते हैं, तो ईश्वर क्या अपने बाप-दादों की कमाई में से लाकर आपके जलवायु-परिवर्तन की व्यवस्था करेगा? यदि आपकी ईश्वर पर इतनी ही निर्भरता है, तो बीमार होने पर डॉक्टर मत बुलाइयेगा? ... यदि वह (देवघर) आपको अनुकूल न लगे, तो वाराणसी चले जाइये। मैं यहाँ से कब का चला गया होता, पर यहाँ के बाबू लोग मुझे जाने ही नहीं देते। देखूँ क्या होता है! ...

परन्तु मैं एक बार फिर कहता हूँ – यदि जलवायु-परिवर्तन के लिये जाना ही हो, तो कृपणता के कारण आगा-पीछा मत कीजियेगा। अन्यथा यह आत्मघात होगा और आत्मघाती की रक्षा ईश्वर भी नहीं कर सकता। तुलसी बाबू और अन्य मित्रों से मेरा नमस्कार कहिये। इति। – नरेन्द्रनाथ

(४) श्री यज्ञेश्वर भट्टाचार्य को

प्रिय फकीर, ५ जनवरी, १८९०

तुम लोगों के साथ मेरी दुबारा भेंट नहीं भी हो सकती है, अत: तुमसे एक बात कहता हूँ। इसे सदा याद रखना – नीति-परायण और साहसी बनो, हृदय पूरी तौर से शुद्ध रहे। पूर्ण नीति-परायण तथा साहसी बनो – कभी अपने प्राणों तक के लिए भी मत डरो। धार्मिक मत-मतान्तरों को लेकर व्यर्थ माथापच्ची न करना। कायर लोग ही पाप किया करते हैं, वीर व्यक्ति कभी पाप नहीं करता – यहाँ तक कि वह अपने मन में भी, कभी पाप का विचार उठने नहीं देता। सभी के साथ प्रेम करने का प्रयास करो। स्वयं मनुष्य बनो और राम आदि जो तुम्हारे संरक्षण में हैं, उन्हें भी साहसी, नीति-

परायण तथा दूसरों के प्रति सहानुभूतिशील बनाने की चेष्टा करना। बच्चो, तुम्हारे लिए नीति-परायणता और साहस के अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं है, दूसरा कोई धार्मिक मत-मतान्तर नहीं है। तुममें कायरता, पाप, दुराचार तथा दुर्बलता – बिल्कुल भी न रहे और बाकी सब कुछ अपने आप आ जायेगा। राम को कभी नाटक देखने या चित्त को दुर्बल बनानेवाले किसी अन्य खेल-तमाशे में, न स्वयं ले जाना और न जाने देना। – तुम्हारा, नरेन्द्रनाथ

(५) बलराम-भवन के बच्चों को –

प्रिय राम, कृष्णमयी तथा इन्दु, ५ जनवरी, १८९०

बच्चो, याद रखना – कायर तथा दुर्बल लोग ही पाप करते हैं और झूठ बोलते हैं। साहसी तथा सुदृढ़ चित्तवाले सदा नीति-परायण होते हैं। नीति-परायण, साहसी तथा सहानुभूति-सम्पन्न होने का प्रयास करो। – तुम्हारा, नरेन्द्रनाथ

प्रयाग की अन्य घटनाएँ

स्वामीजी के प्रयाग के मेजबान श्री गोविन्दचन्द्र वसु उस काल की अपनी स्मृतिकथा में लिखते हैं –

"१८९० ई. में योगानन्द स्वामी परिव्राजक के रूप में भ्रमण करते प्रयाग आये और सौभाग्यवश मेरे घर में आतिथ्य स्वीकार किया कुछ दिनों बाद उन्हें चेचक का रोग हो गया। बातचीत के दौरान मुझे पता चला कि योगेन परमहंसदेव के संन्यासी-शिष्य हैं। और उनके साथ विविध प्रकार से शास्त्र चर्चा, धर्मप्रसंग तथा परमहंसदेव के विषय में बातें करके मैं अत्यन्त मुग्ध हुआ। उनके चेचक निकल आने पर मैं बड़ा चिन्तित हुआ और योगेन महाराज की आज्ञानुसार मैंने वराहनगर के परामाणिक घाट पर सद्य: स्थापित मठ में सूचना भेज दी। तार पाकर स्वामी विवेकानन्द, शिवानन्द, अभेदानन्द,[४] निरंजनानन्द, योगेन-माँ और गोलाप-माँ शीघ्र ही कलकत्ता से (ग्रैण्ड ट्रंक रोड, चक स्थित) मेरे घर आ पहुँचे।"

३. "बलराम का बन्दोबस्त क्या है, जानते हो? – ब्राह्मण की गौ! जो खाय तो कम, पर दूध दे ढेर सारा!" (श्रीरामकृष्ण-वचनामृत, सं. १९९९, खण्ड २, पृ. ९०१

४. यद्यपि गोविन्द बाबू ने बताया है कि स्वामीजी के साथ स्वामी शिवानन्द तथा अभेदानन्द भी आये थे, परन्तु दोनों की जीवनी से पता चलता है कि वे इस टोली में नहीं थे। स्वामी शिवानन्द ने वराहनगर मठ से ८ जनवरी १८९० ई. के अपने एक पत्र में लिखा है कि उस समय स्वामी योगानन्द के साथ निरंजनानन्द भी प्रयाग में निवास कर रहे थे और स्वामी अभेदानन्द ऋषीकेश में थे। ('महापुरुष शिवानन्द' (बँगला), स्वामी अपूर्वानन्द, प्र. सं., पृ. ९०-९१) बँगला में लिखित अभेदानन्द जी की आत्मकथा से भी यही सत्य प्रतीत होता है। सम्भवत: योगेन-माँ तथा गोलाप-माँ भी प्रयाग में कल्पवास करने के लिये आयी हुई थीं। ऐसा लगता है कि तार पाने के बाद केवल स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी सदानन्द ही प्रयाग आये थे।

गोविन्द बाबू लिखते हैं – "एक दिन अपराह्न में सभी अर्थात् स्वामीजी लोग तथा मैं एकत्र होकर भजन और गीत गा रहे थे। भाव जम गया। भजन आदि थोड़ी देर चलता रहा। इससे मेरे मन में विशेष भक्ति तथा आनन्द की उद्दीपना हुई और भाव-संवरण में अक्षम हो जाने के कारण मेरे नेत्रों से आँसू बहने लगे। स्वामीजी आदि गाने में विशेष रूप से आविष्ट हो गऐ थे। पर मेरे नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होते देख उन्होंने अपने भाव का संवरण किया और उपहास तथा व्यंग्य के स्वर में मुझसे बोले, 'तेरे नेत्र बड़े निस्तेज हैं।'

"इसी समय एक दिन संध्या के समय हम अनेक लोग बैठे विविध प्रकार की चर्चा कर रहे थे। श्रीश[५] आकर थियॉसाफी के बारे में तरह-तरह की व्याख्या तथा चर्चा कर रहा था। स्वामीजी ने श्रीश की बातें अधिक श्रद्धा तथा ध्यानपूर्वक नहीं सुनी, पर ज्ञानमार्ग के विविध पक्ष तथा उच्च अवस्था के विषय में बोले। श्रीश सहसा चीत्कार करते हुए बोल उठा, 'स्वामीजी, यह आपने क्या किया? मेरा दस वर्ष का परिश्रम मिट्टी कर डाला।' स्वामीजी ने कहा, 'तुम्हारा मिट्टी हुआ या नहीं हुआ, इससे मुझे क्या?' "[६]

उक्त प्रसंग में महेन्द्रनाथ दत्त लिखते हैं – "श्रीश चन्द्र बसु (जो गाजीपुर के मुन्शिफ थे और बाद में इलाहाबाद के जिला-जज हुए थे।) एक दिन उन्होंने गोविन्द बाबू के घर आकर नरेन्द्रनाथ से भेंट की। श्रीश चन्द्र बसु का मकान इलाहाबाद में ही था, वर्तमान पाणिनी आफिस ही उनका मकान था। उन दिनों वे थियॉसाफिस्ट लोगों के साथ ही मेलजोल रखते थे और उन्हीं लोगों के मतानुसार साधना किया करते थे। नरेन्द्रनाथ ने उनके साथ इतने युक्तिपूर्वक तर्क किया कि श्रीश चन्द्र का सारा मत उलट गया। लौटते समय श्रीश चन्द्र बोले – 'मेरे इतने वर्षों से संचित सारे भाव आज उड़ गये।' इस पर नरेन्द्रनाथ बोले – 'तुम्हारे दस साल के भाव रहे या उड़ गये, इससे किसी का क्या आता-जाता है।' एक अन्य दिन श्रीश चन्द्र गेरुआ वस्त्र पहनकर सबसे मिलने आये थे। इस पर नरेन्द्रनाथ अप्रसन्नता व्यक्त करते हुए बोले – 'गृहस्थ आश्रम में रहकर संन्यासी का वेष मत धारण करना, इसमें तुम्हारा अधिकार नहीं है, अनिष्ट हो सकता है।' उस दिन से श्रीश चन्द्र श्रीरामकृष्ण के प्रति विशेष आकृष्ट हुए और प्रतिदिन प्रात:काल उनके चित्र की

५. श्रीशचन्द्र बसु जो उन दिनों इलाहाबाद हाईकोर्ट में वकालत करते थे और बाद मे न्यायाधीश हुऐ थे। यद्यपि बँगला ग्रन्थ 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' (उद्बोधन, प्र. सं., पृ. १८७-१९१) में गिरीश चन्द्र लिखा है, पर वस्तुत: वे श्रीशचन्द्र थे, जो गाजीपुर के मुन्शिफ थे और सम्भवत: उन्हीं के प्रस्ताव पर स्वामीजी गाजीपुर गये।

६. 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' (बँगला ग्रन्थ), सम्पादक स्वामी पूर्णात्मानन्द, उद्बोधन कार्यालय, प्रथम सं., पृ. १८७-१९१

पूजा करने लगे। बाद में जब वर्तमान लेखक गाजीपुर में उनके घर में थे, तो उन्हें प्रतिदिन श्रीरामकृष्ण के चित्र की पूजा करते देखा था।''[७]

गोविन्दचन्द्र लिखते हैं – ''एक दिन श्रीश ने कहा, 'स्वामीजी, चलिए सन्दूक शाह नामक एक साधु को देखने चलें।' हम सभी शाम को वहाँ जा पहुँचे। सन्दूक शाह त्रिवेणी के निकट स्थित बाँध के उपर रहते थे। वे अपनी सारी चीजें काठ के एक बड़े सन्दूक में भरकर रखते थे और उसी पर आसन बिछाकर बैठे रहते थे। स्वामीजी ने कहा, 'यह साधु रामायत वैष्णव वैरागी है। इसकी दुकानदारी का माल इसी सन्दूक में रहता है।'

''अन्य एक दिन माधवदास बाबा नामक एक बंगाली वैरागी साधु, जो कीटगंज के एक मकान के एक घेरे में चालीस वर्ष रहे, स्वामी विवेकानन्द तथा उनके अन्य गुरु-भाइयों को देख स्तम्भित रह गए। वे स्वामी विवेकानन्द की तीक्ष्ण दृष्टि के सम्मुखीन नहीं हो सके। मन्त्र-औषधि द्वारा वशीभूत सर्प के सामान वे मस्तक झुकाये रहे, कुछ बोल न सके। वैरागी महाशय ने अत्यन्त हर्षित होकर मुझसे कहा, 'गोविन्द, तुम क्या ही अद्‌भुत सत्संग कर रहे हो!'

''एक दिन स्वामीजी, उनके गुरुभ्रातागण और मैं झूँसी-दर्शन करते हुए दयाराम के आश्रम में पहुँचे। पूरा दिन इतने आनन्दपूर्वक बीता था कि उसका वर्णन असम्भव है। वहाँ का सघन भाव, सत्-चर्चा, हृदयस्पर्शी प्रेम और बीच-बीच में हास्योद्दीपक व्यंग-विनोद आज भी मेरे हृदय में जाग्रत है और अभी कुछ काल पूर्व की बात-सी लगती है। वह दृश्य अब भी मेरे नेत्रों के सामने उपस्थित है। हम लोग सायंकाल लौटे। स्वामीजी केवल एक कौपीन तथा गैरिक वस्त्र पहन कर एक मोटा कम्बल ओढ़े नंगे पाँव चल रहे थे। नग्नपद चलने में अनभ्यस्तता और उबड़-खाबड़ एवं बालुकापूर्ण पथ होने के कारण स्वामीजी के पाँव की त्वचा मानो फटकर खून निकलने की हालत में पहुँच गयी थी, जिसे देखकर मेरे मन में बड़ी पीड़ा तथा आत्मग्लानि होने लगी। क्योंकि मेरे पाँव में अच्छा जूता था और वे सभी नंगे पाँव थे। मैं दुखी होकर जूते खोलकर हाथ में लेकर चलने लगा। स्वामीजी यह देख मुझसे स्नेहपूर्वक बोले, 'जूते क्यों निकाल दिये?' मैंने किंचित् लज्जित तथा अन्यमनस्क होकर कहा, 'स्वामीजी, आप सभी नंगे-पाँव इतना कष्ट उठाते हुये चल रहे हैं और मैं जूते पहनकर चलूँ, यह उचित नहीं। आप लोगों को क्लान्त तथा नंगे-पाँव चलता देखकर मेरे हृदय में बड़ी पीड़ा हो रही है, अत: मैं जूते पहने नहीं रह सका।'

''एक रात स्वामीजी अपने गुरुभाइयों के साथ मेरे घर भोजन कर रहे थे। उन दिनों मेरे बड़े भाई रानीमण्डी मुहल्ले में ठण्ठीमल की कोठी में रहते थी। उस समय अमूल्य[८] नामक एक साधु (बाद में इलाहाबाद में 'गुरुजी अमूल्य' के नाम से सुपरिचित) ने सबके साथ बैठकर भोजन करते हुये स्वामीजी को दिखाकर एक सूखी लाल मिर्च खाई, स्वामीजी ने दो खाई, अमूल्य ने तीन खाई, स्वामीजी ने चार खाई; इसी प्रकार मिर्चों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। अन्त में अमूल्य हार मान गये। सभी हँसने लगे। ऐसे सामान्य विषय में भी स्वामीजी के चरित्र का माधुर्य एवं हृदयस्पर्शी भाव परिलक्षित हुआ था। साधारण-सा मिर्च खाना भी एक विशेष कार्य और महत्त्वपूर्ण बात हो सकती है, यह तथ्य अब भी मेरे स्मृति-पटल पर अंकित है। साधारण से कार्य में उनका गाम्भीर्य एवं माधुर्य इस प्रकार व्यक्त होता था, मानो वे वेदान्त के उच्च तत्त्वों की व्याख्या कर रहे हों। भोजन के बाद स्वामीजी मुझसे एकान्त में बोले, 'अमूल्य यदि जाना चाहे तो तुम उसे वराहनगर मठ भेज देना।'

''एक दिन स्वामीजी ने मुझसे कहा, 'आज हम लोग प्रस्थान करेंगे।' मैं अत्यन्त कातर होकर उनसे अनुनय-विनय करने लगा कि वे कम-से-कम एक दिन और ठहर जायँ, क्योंकि उनसे बिछुड़ने की कल्पना मात्र से मेरे प्राण अत्यन्त उद्विग्न हो उठे थे। स्वामीजी ने गम्भीरतापूर्वक मुझसे कहा, 'इससे सत्य की विच्युति होगी। मैं आज ही जाऊँगा।' और उन लोगों ने उसी दिन मेरे घर से प्रस्थान किया।'' ...

स्वामीजी के इस प्रवास के प्रसंग में गोविन्दचन्द्र आगे लिखते हैं – ''उनके साथ मेरा सम्पर्क केवल **पन्द्रह दिनों** के लिये हुआ था और इस अल्प अवधि के दौरान ही उन्होंने मुझ पर इतनी गहरी छाप छोड़ी कि इतने वर्ष व्यतीत हो जाने के बावजूद मेरे हृदय में प्रत्येक बात अब भी नवजात सम सजीव है। विभिन्न विषयों की स्मृति गड्ड-मड्ड हो जाती है, परन्तु उनकी याद इतनी ज्वलन्त एवं सजीव है कि आज भी वह पूर्वाह्न की ही घटना के समान प्रतिभात होती है और जब भी मैं उनके मधुर संग, स्नेहपूर्ण मुख, ज्योतिर्मय कलेवर तथा विशाल हृदय का मन-ही-मन चिन्तन करता हूँ, तभी अतीव पुलकित हो उठता हूँ।''[९]

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

७. श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली (बँगला ग्रन्थ), प्रथम खण्ड, तृतीय सं. १३७१, पृ. २०४-२०८

८. गुरुजी अमूल्य ने कई वर्षों तक मेडिकल कॉलेज में पढ़ाई की थी और नरेन्द्रनाथ के पूर्व-परिचित थे। बाद में वे कोलकाता से प्रयाग जाकर निवास करने लगे। (श्रीमत् विवेकानन्द स्वामीजीर जीवनेर घटनावली, प्रथम खण्ड, पृ. २०५)

९. 'स्मृतिर आलोय स्वामीजी' (बँगला ग्रन्थ), सम्पादक स्वामी पूर्णात्मानन्द, उद्बोधन कार्यालय, प्रथम सं., पृ. १८७-१९१

माँ की मधुर स्मृतियाँ – ८२

माँ के सान्निध्य में

स्वामी महादेवानन्द

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

उन दिनों कोआलपाड़ा में स्वदेशी आन्दोलन का ज्वार आया हुआ था। हम तरुण लोग उसी पथ पर चल रहे थे। कोतुलपुर स्वदेशियों का अड्डा था। विष्णुपुर, इन्दास-आरामबाग थाना से पुलिस के लोगों का कोआलपाड़ा आना-जाना बराबर लगा रहता था। जिस समय माँ ने कोआलपाड़ा होते हुए कलकत्ता जाना-आना शुरू किया और केदार बाबू के मकान में (बाद में जगदम्बा आश्रम) में रहने लगीं, तभी से हम लोगों की विचारधारा में परिवर्तन आना शुरू हो गया। मैं आश्रम के कार्य से जुड़ गया। हम लोगों के मास्टर महाशय – केदार बाबू ने एक दिन हम लोगों को बुलाकर कहा, "मति, एक बार माँ के पास घूमकर आ जा तो, देख, उन्हें किसी चीज की जरूरत तो नहीं है?" उस समय माँ केदार बाबू के मकान में अतिथियों के साथ रह रही थीं। केदार बाबू के कथनानुसार मैं माँ से मिलने जा रहा था। रास्ते में चलते-चलते यह विचार उठने लगा कि स्वदेशी छोड़कर क्या मैंने उचित किया है? या फिर, पुन: स्वदेशी-आन्दोलन से ही जुड़ जाऊँ। अगले ही क्षण मन में आया, अभी मुझे जिस आदर्श का ज्ञान हुआ है, वह तो महत्तर आदर्श है। इसी प्रकार दो परस्पर-विरोधी विचारों के कारण मन चंचल था। सोच-विचार में डूबा हुआ ही मैं केदार बाबू के मकान पर पहुँच गया। माँ की पुकार सुनकर मेरी चेतना लौटी, "क्यों मति बेटा! क्या केदार ने कुछ सन्देश भेजा है?" मेरी अन्तश्चेतना पर मानो किसी ने जोर का आघात किया। मैं जिस चंचल विचार से जर्जरित हो रहा था, माँ के कण्ठ से मानो मुझे उसका उत्तर मिल गया। माँ के प्रश्न के उत्तर में मैंने कहा, "नहीं माँ, मास्टर महाशय ने मुझे केवल आपसे मिलने के लिए कहा है। यह जानने के लिए भेजा है कि आपको किसी चीज की जरूरत तो नहीं है। माँ मन्द हास्य के साथ बोलीं – "नहीं बेटा, सब ठीक है।"

मैंने माँ को साष्टांग प्रणाम किया। माँ ने सिर पर हाथ रखकर कहा, "बेटा, उल्टा-सीधा सोचने की जरूरत नहीं। तुम जिस पथ पर आये हो, वही ठीक पथ है। मैं कहती हूँ, तुम मन को स्थिर करके यहीं रहो। इस प्रकार की हठधर्मिता से क्या देश का कोई काम होता है बेटा? पहले मन को गढ़ लो। उसके बाद यदि कुछ आवश्यक हुआ, तो ठाकुर ही तुम से करा लेंगे।"

माँ एक साँस में ही ये सारी बातें कह गयीं। जो लोग आस-पास थे, उन लोगों ने भी सुना। लेकिन कोई भी नहीं जान सका कि माँ सहसा मुझसे ये बातें क्यों कह रही हैं। पर मैं भलीभाँति समझ गया कि माँ से मन की बात छिपायी नहीं जा सकती। माँ अन्तर्यामिनी हैं। उसके बाद से ही मेरे मन से स्वदेशी आन्दोलन की बात हमेशा के लिए निकल गई।

माँ की बात क्या कहकर भला समाप्त की जा सकती है? मेरे बड़े भाई (किशोरी महाराज – स्वामी परमेश्वरानन्द, माँ के अन्तरंग पार्षद और उनके सेवक) जब कोआलपाड़ा आश्रम के कार्य में व्यस्त हुए, तो मुझे अच्छा नहीं लगा था। उस समय मैं कल्पना भी नहीं कर सकता था कि यही मार्ग मेरा भी भविष्य है। सोचा करता – पूजा-ध्यान आदि करके क्या होगा? मैं उसी भाव से चलता रहा। उसके बाद माँ का कोआलपाड़ा आना-जाना शुरू हुआ। सभी जाते थे, अत: मैं भी उत्सुकतावश आश्रम जाता। उत्सव का कुछ काम करता। स्वामीजी की किताबें पढ़नी अच्छी लगतीं। उनकी फोटो भी अपने पास रखता। दूसरी या तीसरी बार माँ का आगमन हुआ था। मैं उन्हें प्रणाम करने गया था। मेरी अपनी माँ का तब तक देहान्त हो चुका था। मैं माँ को साष्टांग प्रणाम करके खड़ा हुआ। माँ ने मेरी ठुड्डी को स्पर्श करके अपना हाथ चूम लिया और मुझे आशीर्वाद दिया। मैंने माँ की ओर देखा, तो उनमें अपनी स्वर्गवासिनी माँ की झलक दिखी। अत्यन्त विस्मित होकर मैंने माँ को दुबारा प्रणाम किया। माँ बोलीं, "क्या हुआ रे मति, अभी तो तूने प्रणाम किया है!" मैंने कहा, "तो क्या हुआ।" माँ ने और कुछ नहीं कहा, धीरे से हँसकर बोली – "पगला लड़का।"

मेरी दीक्षा की घटना भी आश्चर्यजनक है। मैं आश्रम में सम्मिलित हो गया था। आश्रम में रहता था और काम-काज करता था। परन्तु यह सब सोचकर मैं सिर नहीं खपाता था

कि मंत्रदीक्षा तथा संन्यास लेने की भी आवश्यकता है। आश्रम के बड़े लोग जो कुछ निर्देश देते, उसी के अनुसार मैं काम करता। गाना-बजाना, भजन – इन्हीं सब में ठाकुर-माँ का नाम-गुणगान करते हुए दिन बीत जाता।

सम्भवत: १९१७ ई. के अप्रैल की बात है। माँ उस समय जयरामबाटी में थीं। माँ को जूही के फूल बहुत पसन्द थे। मुझे किसी कार्यवश देशड़ा गाँव जाना पड़ा था। वहाँ घोष लोगों के गृह-उद्यान में बहुत से जूही के फूल हुए थे। मेरी बहुत इच्छा होने लगी कि उनसे पूछकर उनके बगीचे से थोड़े से फूल ले जाकर माँ को अर्पित करूँ। बड़े आश्चर्य की बात ! मुझे बार-बार बगीचे की ओर ताकते देखकर गृहस्वामी ने कहा, "इस वर्ष जूही के बहुत फूल हुए हैं। तुम अपने आश्रम के लिये कुछ फूल लेते जाओ। यह केले का पत्ता काटकर उसी में ले जाओ।" मैंने फिर देरी नहीं की।

अच्छे फूल देखते ही मुझे मालाएँ बनाने की इच्छा होने लगती है। मैं उन फूलों को लेकर सीधा जयरामबाटी पहुँचा। मामी लोगों से सुई-धागा लेकर एक पेड़ के नीचे बैठकर मैंने दो मालाएँ बनायीं। मुझे नहीं मालूम कि मैंने दो मालाएँ क्यों बनायीं। इसके बाद दोनों मालाओं पर तालाब का जल छिड़क कर मैं माँ का दर्शन करने गया। माँ स्नान करने के बाद पूजा करने बैठी थीं। धीरे-धीरे उनके कमरे में घुसकर मैंने दोनों मालाएँ उनके पास रख दीं। देखते ही माँ बोलीं, "वाह, माला बहुत सुन्दर बनी है।" इसके बाद उन्होंने कहा, "मति, तुम जल्दी नहाकर आओ। आज मैं तुम्हें दीक्षा दूँगी। मैं भी यंत्रवत् नहाकर माँ के पास चला आया। माँ ने पास ही बिछे आसन पर बैठने को कहा। तत्पश्चात् माँ ने मंत्रदान किया। मेरे द्वारा बनायी हुई जूही की मालाओं में से एक उन्होंने ठाकुर को पहना दिया। मंत्रदान के बाद माँ ने कहा, "फूल निवेदित करो।" पास रखी दूसरी माला को मैंने माँ के श्रीचरणों में चढ़ा दिया और उन्हें प्रणाम किया। समझ गया कि माँ के हाथों के स्पर्श से मुझे नया जन्म मिला है।

माँ की स्मृति

स्वामी जपानन्द

१९१८ ई. के अन्तिम दिनों की बात है। कुछ महीने पहले बाबूराम महाराज ने देहत्याग किया है। स्वामीजी के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञान महाराज उस समय बेलूड़ मठ में काम-काज देखते और साधु-ब्रह्मचारियों की भी देखभाल करते। उन दिनों बेलूड़ मठ में धन का बहुत अभाव था। फिर मलेरिया बुखार का भी भयानक प्रकोप था। औषधि-पथ्य भी ठीक से नहीं जुटता था। पथ्य में नीबू के रस के साथ साबूदाना या बार्ली मिलता। दूध शायद ही कभी मिल पाता था। एक साथ ही ६-७ साधु मलेरिया से पीड़ित थे।

एक दिन मैं तथा एक अन्य साधु माँ का दर्शन करने उद्बोधन-भवन गये। प्रणाम करके हम लोगों के खड़े होते ही माँ ने मेरे संगी साधु को देखकर खूब व्यथित स्वर में पूछा, "बेटा, तुम्हारा शरीर इतना दुर्बल क्यों हो गया है? पहले तो तुम्हारा स्वास्थ्य कितना अच्छा था !" उन साधु ने कहा, "मलेरिया बुखार के कारण, माँ ! मठ में बड़ा कष्ट और अभाव है। पथ्य के रूप में वहाँ केवल बार्ली और नीबू का रस मिलता है। दूध नहीं जुट पाता। इस समय मठ में कई लोगों को मलेरिया हो गया है।"

मठ में लड़कों के दु:ख-कष्ट की बात सुनकर माँ दुख से विह्वल हो उठीं। उन्होंने ऊपर के बरामदे से जोरों से चिल्लाकर पुकारा, "शरत् ! शरत् ! साधारणत: माँ किसी को भेजकर शरत् महाराज को बुलवा लेतीं और अत्यन्त धीमे स्वर में बातें करतीं। कभी किसी ने उन्हें इस प्रकार जोर से बोलते नहीं सुना था। अत: इस प्रकार माँ को उत्तेजित स्वर में बोलते सुनकर सभी आश्चर्यचकित रह गये। मानो पूरा भवन कम्पायमान हो उठा ! शरत् महाराज ने सोचा – आज न जाने कौन-सा बड़ा काण्ड घटित हो गया। माँ तो कभी इस प्रकार नहीं पुकारतीं !

शरत् महाराज स्थूलकाय व्यक्ति थे। शीघ्रतापूर्वक नीचे के कार्यालय से सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर पहुँचे। उस समय हम लोग वहीं खड़े थे। वे हाँफते हुए हाथ जोड़कर माँ के सामने खड़े हो गये और पूछा, "कहिये माँ, क्या हुआ?"

माँ ने उत्तेजित स्वर में कहा, "यह सब क्या सुन रही हूँ, शरत् ! बेलूड़ मठ में लड़के बीमारी से झेल-झेलकर मर रहे हैं – ठीक से पथ्य भी नहीं जुटता। केवल बार्ली और नीबू का रस पीकर वे कैसे जिन्दा रहेंगे? अभी-अभी बाबूराम भी चला गया – लड़कों को वहाँ कोई देखता नहीं। यदि तुम लोग कोई व्यवस्था न कर सको, तो... ।" शरत् महाराज ने कहा, "आप शान्त हो जाइये माँ। मैं अभी व्यवस्था करता हूँ।" हम दोनों अत्यन्त संकुचित हो गये।

महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) उन दिनों बलराम-मन्दिर में निवास कर रहे थे। शरत् महाराज तुरन्त बलराम मन्दिर में महाराज के पास जा पहुँचे और उन्हें सारी घटना से अवगत कराया। सब कुछ सुनकर धीर-गम्भीर महाराज भी विचलित हो उठे। उन्होंने तुरन्त अपने सचिव अमूल्य महाराज (स्वामी शंकरानन्द) को बुलाकर श्यामबाजार मार्केट से सब्जी, चावल, दाल, आटा, चीनी, सूजी, घी तथा अन्य सामान खरीदवाकर नौका से बेलूड़ मठ भिजवा दिया। शरत् महाराज ने लौटकर माँ से सारी बातें बतायीं। तब जाकर माँ शान्त हुईं।* ❑

* माँ के मंत्रशिष्य स्वामी जपानन्दजी ने १९७० ई. में कलकत्ते के अद्वैत आश्रम में ये स्मृतियाँ सुनायी थीं। स्वामी चेतनानन्द ने उन्हें यथावत् अपनी डायरी में लिख लिया था।

कर्मयोग की साधना (६)

स्वामी भजनानन्द

(गीता में कहा गया है – "किं कर्म किं अकर्म इति कवयोऽप्यत्र मोहिता: – कर्तव्य क्या है और क्या नहीं, इस विषय में विवेकवान लोग भी भ्रमित हो जाया करते हैं।" भारत में कर्मनिष्ठा तथा ज्ञाननिष्ठा का विवाद अति प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। स्वामी विवेकानन्द ने वर्तमान युग के मनुष्य के कर्तव्य के रूप में 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' नामक एक नवीन कर्मयज्ञ का प्रवर्तन किया है। वर्तमान लेखमाला में इस कर्मतत्त्व की ही मीमांसा की गयी है और बताया गया है कि किस प्रकार निष्काम कर्म हमें जीवन के चरम लक्ष्य – आत्मा-ईश्वर या ब्रह्म की उपलब्धि करा सकता है। इसका प्रकाशन पहले अंग्रेजी मासिक 'प्रबुद्ध भारत' के अंकों में और तदुपरान्त रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द विश्वविद्यालय, बेलूड़ मठ से पुस्तक के रूप में हुआ। वहीं से 'विवेक-ज्योति' के पाठकों के लिये प्रस्तुत है उसका हिन्दी अनुवाद। – सं.)

१६. कर्मयोग के मूलभूत सिद्धान्त

कर्मयोग एक आध्यात्मिक साधना है और यह सार्वभौमिक रूप से स्वीकृत कुछ शाश्वत सिद्धान्तों पर आधारित है। इसका पहला सिद्धान्त है – नि:स्वार्थ कर्म की स्वाभाविकता। यद्यपि हम सोचते हैं कि हम अपनी स्वाधीन इच्छा से अपना कार्य कर रहे हैं, परन्तु समस्त कर्म वस्तुत: सार्वभौमिक जीवन-प्रवाह का एक अंश है। इसीलिये श्रीकृष्ण कहते हैं – "वस्तुत: कर्म किये बिना कोई एक क्षण के लिये भी स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों (शक्तियों) के प्रभाव से मनुष्य कर्म करने को विवश है।"[३१] जैसे शारीरिक श्रम में भौतिक ऊर्जा का रूपान्तरण होता है, वैसे ही कर्म में भी जीवन-ऊर्जा का रूपान्तरण होता है। जीवन की ये क्रियाएँ पूरे ब्रह्माण्ड में हो रही विराट् तथा रहस्यमय गतिविधियों का ही एक अंश मात्र है।

गैलीलियो तथा न्यूटन का एक महान् आविष्कार यह था कि सभी पदार्थों की स्वाभाविक गति सीधी रेखा में होती है, बशर्ते कोई बाह्य शक्ति उसे प्रभावित न करे। न्यूटन के सुप्रसिद्ध गति के सिद्धान्त का यह पहला नियम है।[३२] इसका तात्पर्य यह है कि पदार्थों को गतिशील रखने के लिये किसी शक्ति की जरूरत नहीं है। यदि गुरुत्वाकर्षण की शक्ति हमें पृथ्वी की ओर नहीं खींचे रहती, तो हम सभी शून्य आकाश में तैर रहे होते ! सूक्ष्मतम परमाणु से लेकर विराट् आकाश-गंगाओं तक – ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु गतिशील है। यहाँ तक कि जब हम सोचते हैं कि हम अपने हाथ-पाँव हिला रहे हैं, उस समय भी वस्तुत: होता यह है कि हमारे शरीर में फास्फेट बांड्स के माध्यम से हमारे शारीरिक कोषों में पोटेंशियल (स्थितिज) ऊर्जा के रूप में आबद्ध सौर ऊर्जा, काइनेटिक (गतिक) ऊर्जा में रूपान्तरित हो रही है। हम अपने भीतर तथा सर्वत्र पहले से ही उपस्थित गति में केवल नियंत्रण या दिशा-परिवर्तन कर सकते हैं। इसी प्रकार अपने विचारों को भी हम वस्तुत: उत्पन्न नहीं करते। हमारे अन्दर प्राण या जीवन-ऊर्जा की क्रिया से विचार उत्पन्न होते हैं, जो सुप्त संस्कारों को सक्रिय कर देते हैं। हम विचारों के प्रवाह को नियंत्रित मात्र कर सकते हैं। पतंजलि के मतानुसार परम मुक्ति पाने तक व्यक्ति के मन को कभी विराम नहीं मिलता। यहाँ तक कि गहन निद्रा तथा समाधि के दौरान भी मन में सूक्ष्म रूपान्तरण की प्रक्रिया चलती रहती है। इन सबसे यह पता चलता है कि गति या क्रिया सार्वभौमिक तथा असृष्ट है।

न्यूटन के भी शताब्दियों पूर्व अरस्तू ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया कि समस्त क्रियाएँ एक समष्टि क्रिया की अंग हैं, और वह एक आदि कारण से उद्भूत होती हैं, जो स्वयं अचल है। वेदान्त-दर्शन में भी इसी से मिलता-जुलता दृष्टिकोण मिलता है, जिसका कहना है कि पूरा ब्रह्माण्ड ही ईश्वर का शरीर है, जो सभी क्रियाओं के मूल स्रोत हैं। गीता में श्रीकृष्ण घोषित करते हैं – "हे अर्जुन, ईश्वर सभी जीवों के हृदय में निवास करते हैं और देहरूपी यंत्र में आरूढ़ होकर उसे परिचालित करते हैं।"[३३] और वे अर्जुन को उन आदि कर्ता के प्रति आत्म-समर्पण का अभ्यास करने को कहते हैं – "मैं उन आदि पुरुष की शरण लेता हूँ, जिनसे यह अनादि संसार-प्रवाह नि:सृत हुआ है।"[३४]

पूरा ब्रह्माण्ड गत्यात्मक या सक्रिय अवस्था में है। जैसे शरीर का प्रत्येक कोष निरन्तर अपने नियत कार्य में लगा रहता है और मानव-शरीर को जीवित रखता है, वैसे ही समस्त जीवित प्राणी, समष्टि जीवन-स्रोत के सतत प्रवाह को बनाये रखने के लिये कार्य कर रहे हैं। अस्तित्व के इस रहस्यमय प्रबन्धन को देखकर लगता है कि इसमें प्रत्येक प्राणी को कुछ भूमिका निभानी है। यह क्या प्रदर्शित करता है? यह प्रदर्शित करता है कि वस्तुत: कोई भी कर्म हमारा

३१. भगवद्-गीता, ३/५

३२. न्यूटन का गति का प्रथम नियम है, "प्रत्येक पदार्थ तब तक पूर्ण विश्राम की अवस्था में रहता है अथवा एक सीधी रेखा में समान गति से चलता रहता है, जब तक कि उसे किसी बाह्य .... शक्ति से उस अवस्था को बदलने के लिये बाध्य न किया जाय।" वर्तमान सन्दर्भ में इस नियम के केवल 'गति' (क्रिया) अंश पर विचार किया गया है।

३३. भगवद्-गीता, १८/६१ ३४. वही, १५/४

अपना नहीं है; और नि:स्वार्थ कर्म एक प्राकृतिक नियम है। अहंकार इस सार्वभौमिक कर्म के एक हिस्से पर अधिकार जमा लेना चाहता है और उस पर स्वामित्व का दावा करता है। वस्तुत: प्रकृति द्वारा चलाया जा रहा नि:स्वार्थ कर्म ही एकमात्र 'कर्म' है। अहंकारयुक्त कर्म एक 'प्रतिक्रिया' मात्र है; यह सार्वभौमिक स्रोत की वस्तु को पकड़ रखने हेतु अहंकार की प्रतिक्रिया है। इसीलिये कामना-प्रेरित कर्म इतने संघर्ष, तनाव तथा पीड़ा की सृष्टि करता है। अहंकार ही हमारे सारे कष्टों का एकमात्र कारण है। हम जितने अधिक अहंकारी होते हैं, जीवन-स्रोत से उतने ही विच्छिन्न होते जाते हैं; और अपने आप को चलाने के लिये हमें उतने ही अधिक प्रयास की आवश्यकता होती है।

नि:स्वार्थ कर्म स्वत:स्फूर्त, नैसर्गिक, आरामप्रद तथा शान्तिपूर्ण होता है। अपनी दैनन्दिन दिनचर्या तथा कर्म के लिये हमें इतना अधिक चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुत: प्रकृति हमारे लिये सब कुछ करती है। हमें केवल इतना ही समझ लेना है कि प्रकृति कैसे कार्य करती है – इस प्रक्रिया को सीखना या शिक्षा कहते हैं – इससे हमारे भीतर प्रकृति के अबाध रूप से कार्य करने के लिये एक मार्ग का सृजन होता है। एक बालक परीक्षा में प्रश्नों के उत्तर कैसे लिखता है? वह केवल लेखनी को पकड़ता है। उसका अचेतन मन – जो पूर्व काल में संचित उसके समस्त पचे या अनपचे विचारों का भण्डार है, सब कुछ को मिलाकर उसकी लेखनी को खुराक प्रदान करता है। परन्तु बालक इस पूरी प्रक्रिया के विषय में अनजान है। हमारी अधिकांश दैनन्दिन गतिविधियाँ तथा व्यावसायिक कार्य प्रकृति ही अचेतन मन के द्वारा सम्पन्न करती है। यदि हम प्रकृति में विश्वास करना सीख जायँ और उसकी कार्यधारा से अपने को समायोजित कर लें, तो हम आपना कार्य और भी अधिक कुशलता, नि:स्वार्थता और अनावश्यक तनाव तथा संघर्ष के बिना ही सम्पन्न कर सकेंगे। इस प्रकार अर्जित की गयी मन की शान्ति तथा स्वाधीनता को, तब ईश्वर की खोज में लगाया जा सकेगा।

कर्मयोग का दूसरा मूलभूत सिद्धान्त है – यज्ञ अथवा बलिदान का नियम। इससे दो निष्कर्ष निकलते हैं। सब जीवों को मिलाकर ईश्वर का शरीर है और जीवन-ऊर्जा इसमें से होकर एक चक्र के रूप में बह रही है। प्रत्येक जीव इस सामान्य स्रोत से जो कुछ लेता है, वह उसे लौटा देना होगा। इस नियम का एक तात्पर्य यह भी है कि उच्चतर सुख या अनुभूति की प्राप्ति के लिये निम्नतर सुख या अनुभूति का बलिदान करना पड़ता है। जब तक जीवन के चरम लक्ष्य की प्राप्ति न हो जाय, तब तक व्यक्ति को इस नियम का पालन करना होगा। केवल एक पूर्णत: सिद्ध व्यक्ति ही इस उत्तरदायित्व से मुक्त हो सकता है, यद्यपि वह भी इसका पालन करते हुए जगत् के कल्याणार्थ समाज-सेवा कर सकता है।

कर्मयोग जिन मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है, उनमें से तीसरा यह है कि कर्म का फल या परिणाम कर्ता की चेतना के स्तर पर निर्भर करता है। महत्त्वपूर्ण बात यह नहीं है कि हम करते क्या हैं, बल्कि यह है कि हम उसे करते कैसे या किस भाव से हैं। (यह सिद्धान्त स्पष्टत: केवल भले या सत् कार्यों पर ही लागू होता है।) समस्त कर्म-ऊर्जा के मूल उद्‌गम ईश्वर हैं; और इस कारण हर प्रकार का कर्म पवित्र है तथा उसका आत्मोपलब्धि के लिये उपयोग किया जा सकता है। परन्तु इसके लिये व्यक्ति को चेतना के उचित स्तर में होना आवश्यक है।

कर्म नहीं, अपितु कामनाएँ तथा अहंकार ही हमें संसार में आबद्ध करते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि हम एक मशीन या मधुमक्खी की भाँति कार्य करें। हमें सचेत मन के साथ – पूर्ण आत्म-सजगता के साथ कर्म करना होगा। हमें सर्वदा स्मरण रखना होगा कि नि:स्वार्थ कर्म का अर्थ है कामनाओं से रहित होकर कर्म करना, परन्तु उसके पीछे एक जाग्रत अनासक्त बृहत्तर आत्मा स्थित हो। प्रत्येक कर्म हमारी इच्छाशक्ति से अनासक्त हो और हमारी आत्म-चेतना का विस्तार करे। जब आत्मा इच्छाशक्ति से अनासक्त हो जाती है, तो कर्म से नये संस्कार नहीं उत्पन्न होते। जब आत्मा जीवन-प्रवाह से अनासक्त होती है, तब सारी क्रियाएँ प्रकृति द्वारा सम्पन्न की जायेंगी और कर्मों के फल भी, प्रकृति के होने के कारण, कर्ता के पास नहीं लौटेंगे। इस प्रकार सामान्यत: बन्धनकारी फल उत्पन्न करनेवाले साधारण कर्म को, मुक्ति की एक साधना रूप कर्मयोग में परिणत करने में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है – व्यक्ति की चेतना का स्तर। जैसा कि कहावत है – "केवल मन ही मनुष्य के बन्धन तथा मुक्ति – दोनों का कारण है।"[३५]

१७. कर्मयोग तथा बुद्धियोग

कर्मयोग वह साधना है, जो इच्छाशक्ति को कामनाओं से निरन्तर अलग करते हुए साधारण कार्य को अपनी मुक्ति तथा दूसरों के कल्याण के साधन में रूपान्तरित करती है। कामनाएँ दो प्रकार की हैं – प्रत्यक्ष दिखनेवाली भोग्य विषयों की कामना और वर्तमान कर्मों की अदृष्ट भावी फलों की कामना। प्रथम प्रकार की कामना पशुओं तक में सहज-प्रवृत्ति के रूप में पायी जाती है। आशा या इप्सा कहलानेवाली दूसरे प्रकार की कामना केवल मनुष्य-मात्र की विशेषता है; और कर्मयोग मुख्यत: इसी से सम्बद्ध है। जैसा कि हम पहले कह आये हैं, इच्छाशक्ति से जुड़ जाने पर ही ये दोनों प्रकार की कामनाएँ जीवात्मा के बन्धन का कारण बन जाती हैं।

३५. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः – अमृतबिन्दु उप., २

यदि इच्छाशक्ति को कामनाओं से मुक्त कर लिया जाय, तो आत्मा द्रष्टा मात्र रह जाती है। तब व्यक्ति स्पष्ट रूप से कामनाओं की प्रक्रिया को देख पाता है कि वे कैसे प्रकट तथा लुप्त होती हैं और कैसे वे जीव को विभिन्न कर्मों में प्रवृत्त करती हैं। संध्या नामक वैदिक नित्य उपासना साधक को अनासक्ति के इस दृष्टिकोण की शिक्षा देती है – "(देवताओं को) प्रणाम। कामना कर्म करती है। कामना कर्म करती है। मैं नहीं, कामना ही कर्म कर रही है ...।"[३६] सभी कामनाएँ और साथ ही सारे कर्म प्रकृति की गति के अंग हैं। आत्मज्ञानी व्यक्ति देखता है कि प्रकृति ही उसके भीतर तथा बाहर कार्य कर रही है।[३७] तंत्रों में प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति कहा गया है और इस कारण समस्त कर्मों को जगदम्बा द्वारा अपनी रहस्यमय इच्छा द्वारा परिचालित माना गया है।

साधारण कर्म में एक त्वरित वृद्धि का प्रभाव होता है – एक कर्म दूसरे कर्म में ले जाता है; हम जितना ही कर्म करते हैं, उतना ही अधिक कर्म के अवसर पाते हैं और हम उतने ही अधिक आबद्ध भी होते जाते हैं। कर्मयोग कर्म को एक ऐसे साधन में परिणत कर देता है, जिसकी सहायता से इस भँवर में फँसी हुई आत्मा बाहर निकल सकती है। यह एक ऐसी तकनीक है, जिसमें सारा कार्य प्रकृति के जिम्मे छोड़ दिया जाता है। गीता इसी को 'कर्म में कुशलता' कहती है।[३८]

यह कुशलता बाह्य कर्म में नहीं, अपितु मन में है। कर्मयोग वस्तुत: एक मानसिक साधना है। यह मन को नियंत्रित करने की एक साधना है। मन को किसी उच्चतर वस्तु – अर्थात् बुद्धि के द्वारा ही नियंत्रित किया जा सकता है। यह बुद्धि ही शुद्ध इच्छा तथा शुद्ध चेतना का निवास है। जब तक उच्चतर प्रज्ञा कुछ हद तक विकसित न हो जाय, तब तक कर्मयोग की साधना असम्भव है। वस्तुत: जब बुद्धि विकसित होती है, आगे बढ़ती है और कर्म का उत्तरदायित्व सँभाल लेती है, तभी वह कर्मयोग बन जाता है। इसीलिये गीता में कर्मयोग को 'बुद्धियोग' कहा गया है।[३९]

१८. कर्म को कर्मयोग में परिणत करना

उपरोक्त चर्चा से अब यह स्पष्ट हो चुका है कि कर्मयोग कोई आसान मार्ग नहीं है। भले ही इसमें अन्य योगों के समान किसी निर्जन स्थान में शान्तिपूर्वक बैठने, शास्त्रों में विद्वत्ता, गुरु द्वारा पथ-प्रदर्शन आदि की आवश्यकता नहीं होती। भले ही इसका कहीं भी, कभी भी और किसी के भी द्वारा अभ्यास किया जा सकता है। परन्तु आम लोगों में प्रचलित यह धारणा गलत है कि यह एक सहज मार्ग है, जिस पर कोई भी जैसे भी चाहे उट-पटांग चल सकता है। सामान्य कर्म को कर्मयोग में परिणत करने के लिये कुछ मानसिक शर्तें पूरी करना आवश्यक है। विवेक, वैराग्य तथा व्याकुलता – प्रत्येक योग के अभ्यास के लिये मूलभूत आवश्यकता है। परन्तु विभिन्न योगों में उनकी अभिव्यक्ति तथा प्रयोग के विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं।

कर्मयोग में व्याकुलता का तात्पर्य केवल अपनी मुक्ति की इच्छा नहीं, अपितु दूसरों का उपकार भी है। स्वामी विवेकानन्द पूछते हैं – "जिस साधन-भजन या अनुभूति से दूसरों का उपकार नहीं होता, महा-मोह में फँसे हुए जीवों का हित नहीं होता, काम-कांचन की सीमा से मनुष्य को बाहर निकलने में सहायता नहीं मिलती, ऐसे साधन-भजन से क्या लाभ? क्या तू समझता है कि एक भी जीव के बन्धन में रहते हुए तेरी मुक्ति होगी?"[४०]

अपने जीवन का विशेष लक्ष्य ही कर्मयोगी की आकांक्षा है। उसे महसूस करना होगा कि उसके जीवन का एक विशेष लक्ष्य है और उसे अपने समस्त कर्मों को उसी लक्ष्य से जोड़ना होगा।

कर्मयोगी का वैराग्य धर्म या नीति पर आधारित होता है। जो व्यक्ति धर्ममय जीवन व्यतीत करता है, केवल उसी के लिये वैराग्य का आध्यात्मिक महत्त्व है। एक अपवित्र तथा स्वार्थी व्यक्ति का वैराग्य केवल क्रूर उदासीनता मात्र है। द्वितीयत:, कर्मयोगी का वैराग्य प्रेम पर आधारित होता है। वह जानता है कि जो व्यक्ति वैराग्यवान है तथा अपनी आत्मा पर ही निर्भर है, केवल वही सभी लोगों के साथ समान भाव से प्रेम कर सकता है। तृतीयत:, उसका वैराग्य, बृहत्तर अस्तित्व की चेतना से उत्थित समर्पण के दृष्टिकोण पर आधारित होता है। वह अपनी समस्त सीमाओं तथा सम्भावनाओं के साथ स्वयं को स्वीकार करता है। वह सौभाग्य तथा दुर्भाग्य, सुख तथा दुख, प्रेम तथा घृणा, भलाई तथा बुराई – आदि जीवन के समस्त द्वन्द्वों को अपरिहार्य मानकर स्वीकार करता है। समर्पण का यह दृष्टिकोण ही सच्ची विनम्रता है।

कर्मयोगी निरन्तर कर्तव्य तथा अकर्तव्य और नित्य तथा अनित्य के बीच विवेक का अभ्यास करता रहता है। यह उसकी चेतना की सीमाओं का विस्तार करता है और उसे विराट् पुरुष के साथ जोड़ देता है।

जब तक व्यक्ति में बुद्धि का कुछ हद तक विकास या जागरण नहीं हो जाता, तब तक उसके लिये अपनी दैनन्दिन

(शेष अगले पृष्ठ पर)

३६. कामोऽकार्षीन्नमो नम:, कामोऽकार्षीत्, काम: करोति नाहं करोमि ... (महानारायण उपनिषद्, ६१-६२)

३७. भगवद्-गीता, ३/२७, २८, २९, ३३

३८. वही, २/५०

३९. वही, २/४९, १०/१०, १८/५७

४०. विवेकानन्द साहित्य, कलकत्ता, प्र. सं., खण्ड ६, पृ. १९९

स्वामी विरजानन्द (७)

स्वामी अब्जजानन्द

(स्वामी विवेकानन्द के अल्पावधि जीवन-काल में अनेक नर-नारी उनके घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ युवकों ने उन्हीं चरणचिह्नों पर चलते हुए त्याग-संन्यास का जीवन भी अंगीकार किया था। प्रस्तुत है स्वामीजी के उन्हीं संन्यासी शिष्यों में से कुछ की जीवन-गाथा। बँगला भाषा से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। अनुवाद में कहीं-कहीं अंग्रेजी संस्करण से भी सहायता ली गयी है। – सं.)

❖ (पिछले अंक से आगे) ❖

अपने गुरुदेव (स्वामी विवेकानन्द) के आदेश का अक्षरश: पालन ही विरजानन्दजी का जीवनव्रत था। इसीलिये उनके उत्तर-जीवन में पग-पग पर, उनके हर वाक्य में मानो स्वामीजी का आदेश तथा इच्छा को रूपायित करने की कामना ही व्यक्त हुई है। स्वामीजी द्वारा परिकल्पित संघ की कार्यधारा के वे ही सर्वश्रेष्ठ धारक तथा वाहक थे। स्वामीजी के ध्यान का भारत सम्भवत: उनके भी ध्यान में प्रकट हुआ था। सम्पूर्ण विश्व की मुक्ति भारत के आध्यात्मिक पुनर्जागरण पर ही निर्भर है – 'The salvation of the world depends on the regeneration of India' – स्वामीजी के इस सन्देश को वहन करते हुए वे सारे भारत का दौरा करते रहे। उनके गुरुदेव की आशा-आकांक्षाएँ उनके मनश्चक्षुओं के समक्ष मानो वास्तविक रूप धारण कर लेती थी। स्वामीजी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर बेलूड़ मठ में जिस 'विवेकानन्द-विश्वविद्यालय' की स्थापना का प्रयास हुआ था, उसके काफी पूर्व ही विरजानन्दजी ने एक व्याख्यान में उसकी परिकल्पना देते हुए कहा था, "I am sanguine enough to hope that before long my beloved Master's dream of a rejuvenated India will be fulfilled. A few years back, no one could think that a magnificent temple in memory of Sri Ramakrishna would quickly rise on the bank of the Ganga at Belur as directed by Swamiji. And the Mission is taking steps to establish a residential college there—perhaps as the nucleus of the University—foreshadowed by his prophetic vision." – "मैं निश्चित रूप से विश्वास करता हूँ कि मेरे परम प्रिय आचार्य की जाग्रत भारत की आकांक्षा अवश्य पूर्ण होगी। बेलूड़ में गंगातट पर स्थापित स्वामीजी द्वारा प्रकल्पित इस श्रीरामकृष्ण मन्दिर की बात कुछ वर्षों पूर्व तक भी भला कौन सोच सकता था! मिशन तो अब वहाँ एक आवासीय विद्या-मन्दिर भी स्थापित करने की तैयारी में लगा है, जो सम्भवत: द्रष्टा आचार्य द्वारा भाव में देखे गये विश्वविद्यालय के केन्द्र-स्वरूप होगा।"

यहाँ स्मरणीय है कि विद्या-मन्दिर तथा सारदापीठ के नाम से जो विशाल शिक्षा-केन्द्र रामकृष्ण मिशन द्वारा परिचालित हो रहे हैं, उसकी नींव जिन लोगों के आशीर्वाद से सिंचित हुई है, उनमें विरजानन्दजी ही प्रमुखतम हैं। इस प्रसंग में स्वामी विवेकाननन्द की शिष्या मिस जोसेफीन मैक्लाउड के नाम का कृतज्ञतापूर्वक उल्लेख करना आवश्यक है। स्वामीजी के आदर्श के अनुसार रामकृष्ण मिशन का यह विपुल शिक्षा-प्रयास जिन स्वामी विमुक्तानन्द की कर्म-कुशलता तथा साधना के फलस्वरूप कार्य रूप में परिणत हो सका था। विरजानन्दजी के निरन्तर प्रोत्साहन तथा प्रेरणा ने ही उनमें कर्मशक्ति उत्पन्न किया था। विरजानन्दजी प्राय: ही कहते, "स्वामीजी उपेन (स्वामी विमुक्तानन्द) के ऊपर सवार हो गये हैं।" अपने प्राय: हर पत्र में विरजानन्दजी उन्हें प्रेरणा देते – "तुम कॉलेज के लिये जो इतना प्रयास कर रहे हो, यह देखकर मुझे अतीव प्रसन्नता होती है। अब श्रीठाकुर-स्वामीजी की इच्छा से यह कार्य खड़ा हो जाय, तो सबको खूब आनन्द होगा।"

१९४० ई. के ३१ जनवरी को, स्वामीजी के पुनीत आविर्भाव-तिथि के अवसर पर, मठाधीश विरजानन्दजी के कर-कमलों द्वारा ही रामकृष्ण मिशन का सर्वप्रथम कॉलेज – विद्या-मन्दिर का शिलान्यास हुआ। इसके बाद १९४१ ई. के ४ जुलाई को स्वामीजी के महाप्रयाण-दिवस पर इस

पिछले पृष्ठ का शेषांश

गतिविधियों के दौरान इस प्रकार की व्याकुलता, वैराग्य या विवेक को जाग्रत रख पाना असम्भव है। मन के दो स्तर हैं – चेतन और अचेतन; और दोनों के द्वारा ही कर्म सम्पन्न किया जा सकता है। टहलना, साइकिल चलाना, अन्य दैनन्दिन गतिविधियाँ तथा मानसिक जीवन का अधिकांश भाग अचेतन (मन) द्वारा नियंत्रित किया जाता है; और इसके फलस्वरूप हम शायद ही कभी अपने प्रति सचेत रहते हैं। इस प्रकार के अचेतन कार्य को योग नहीं कहा जा सकता। कर्म जब एक सचेतन प्रक्रिया बन जाता है और जब उसके दौरान सर्वदा आत्म-स्मरण बना रहता है, तभी वह योग कहलाता है। यह केवल तभी सम्भव है, जब कर्म एक सतर्क बुद्धि द्वारा समर्थित हो। बुद्धि की स्पष्टता तथा विकास के लिये ब्रह्मचर्य आवश्यक है। इस प्रकार कर्म को कर्मयोग में परिणत करने के लिये ब्रह्मचर्य भी एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। **❖ (क्रमश:) ❖**

संस्था का कार्य आरम्भ हुआ। तब भी श्यामला-ताल से विरजानन्दजी का आशीर्वाद तार के माध्यम से आया था, "Craving Sri Ramakrishna's and Swamiji's grace and blessings for its brillian success with my prayers." – "इसकी उज्ज्वल सफलता के लिये इस पर श्रीरामकृष्ण तथा स्वामीजी की कृपा तथा आशीर्वाद वर्षित हो। इसके साथ ही मैं अपनी प्रार्थना भी जोड़ता हूँ।"

एक बार स्वामीजी ने उन्हें अपने पास बैठाकर उनके सिर पर हाथ रखकर खूब आशीर्वाद देते हुए अन्त में कहा था – "विश्वास कर, उनकी शक्ति तेरे भीतर संक्रमित हो गयी है। संघ को ही ठाकुर का समष्टि-शरीर समझना।" ४ फरवरी, १८९८ ई. को विरजानन्दजी ने अपनी व्यक्तिगत डायरी में इस घटना को इन शब्दों में लिपिबद्ध किया था – "In the Thakur-ghar (shrine) he (Swamiji) advised us to look upon the Order collectively as Sri Ramakrishna. He has entered into our Order." संघ-नेता विरजानन्दजी इस गुरुवाक्य को प्रतिक्षण स्मरण रखते और दूसरों में भी इस भाव को दृढ़तापूर्वक अंकित कर देते। उनके असंख्य आचरणों से यह सिद्ध होता है कि वे संघ को सचमुच ही श्रीरामकृष्ण के समष्टि-विग्रह के रूप में देखते थे। बहुविध शाखाओं के रूप में फैले इस विशाल संघ के मूल श्रीरामकृष्ण हैं; इसका सारा प्राणरस उस मूल से ही संचारित हो रहा है और उसी से यह जीवित बना हुआ है। इसीलिये वे प्राय: ही श्रीरामकृष्ण संघ के लिये एक ऊर्ध्वमूल अध:शाखाओं वाले वृक्ष की उपमा दिया करते थे।[१४]

स्वामीजी की आन्तरिक इच्छा थी कि बेलूड़ मठ के समान ही महिलाओं के लिये भी एक मठ की स्थापना की जाय। १९५४ ई. में श्रीमाँ सारदा देवी की जन्म-शताब्दी वर्ष में स्वामीजी द्वारा परिकल्पित वह मठ 'श्री सारदा मठ' के नाम से दक्षिणेश्वर में स्थापित हुआ। इसकी स्थापना के मूल में निहित विरजानन्दजी की प्रेरणा तथा प्रोत्साहन ने ही, श्रीरामकृष्ण-भावधारा के इतिहास में एक नवीन अध्याय के सूत्रपात को गति प्रदान किया था। १९४६ ई. में आयोजित संघ त्रैवार्षिक साधु-सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में उन्होंने स्वामीजी की उपरोक्त आकांक्षा की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कराया था। इसके साथ ही इस नारी-मठ के साकार रूप धारण करने के विषय में उन्होंने अपना दृढ़ विश्वास भी व्यक्त किया था। उक्त व्याख्यान में उन्होंने कहा था, "I am sure, nothing will be wanting or will stand in the way to make the women's monastery a grand success." इसके बाद १९५० ई. के ३० जुलाई को, निवेदिता विद्यालय के सारदाश्रम में निवास करनेवाली कुछ व्रतधारिणियों के लिये प्रेषित उनकी आशीर्वाणी भी विशेष संकेत तथा तात्पर्य से युक्त होने के कारण इस प्रसंग में खूब स्मरणीय है। उस सन्देश में उनकी मर्मस्पर्शी उक्ति इस प्रकार है – "श्रीरामकृष्ण, माँ तथा स्वामीजी की असीम कृपा से तुम लोगों के आज एक लक्ष्य, एक व्रत, एक कर्मधारा में एकत्रित होने से, मैं इस अकल्पनीय घटना के बारे में सोचकर अपने प्राणों में अपूर्व आनन्द का बोध कर रहा हूँ। मेरे जीवन-काल में ही यह सम्भव हो सकेगा, ऐसी मैं कल्पना तक नहीं कर सका था। वैसे मैं अपने प्राणों में यह अनुभव किया करता था कि महिलाओं में भी त्याग तथा आध्यात्मिक जागरण उत्पन्न करने की स्वामीजी की जो हार्दिक इच्छा थी, वह एक दिन अवश्य सफल होगी।" संघ के विस्तार के इतिहास में ऐसी अनेक घटनाओं के साथ विरजानन्दजी की कर्म-साधना जुड़ी हुई है।

विरजानन्दजी ने काफी काल हिमालय में बिताया था, अत: उनके मन में हिमालय के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण हो गया था। मठ तथा मिशन के सर्वाध्यक्ष होने के बाद भी वर्ष के कई महीने हिमालय की गोद में स्थित श्यामला-ताल के आश्रम में ही बिताया करते थे। परन्तु हृदय-रोग में क्रमश: वृद्धि होते जाने के कारण चिकित्सकों ने उन्हें पहाड़ में रहने की अनुमति नहीं दी। इसके फलस्वरूप अपने जीवन के अन्तिम लगातार एक वर्ष तथा पच्चीस दिन उन्होंने बेलूड़ मठ में ही बिताये थे। रुग्ण अवस्था में मठ में रहते समय भी उनकी स्वाभाविक जीवन-यात्रा में खूब कम ही परिवर्तन होता। विभिन्न प्रकार के जटिल रोगों ने आकर उनके जरा-जीर्ण शरीर को आश्रय बना लिया। रोग की भीषण पीड़ा को उन्होंने दिन-पर-दिन असाधारण धैर्य तथा प्रसन्नता के साथ सहन किया। उनका हास्य-दीप्त मुख-मण्डल देखकर लगता कि जरा-व्याधि उनके शरीर को जरा भी स्पर्श नहीं कर सकी है। स्वामीजी के गृही शिष्य शरत्चन्द्र चक्रवर्ती के नाम लिखित उनके एक पत्र की हर पंक्ति में उनके देहबोध-

---

१४. "The mighty tree of the Ramakrishna Order, which we, of this generation have been privileged to watch grow under our eyes and which we in our own way have been privileged to water and nourish, is putting forth new shoots, day after day, in the shape of increasingly useful institutions for service of man. ... It is the cherished aim of the Ramakrishna Mission to serve humanity like the tree ... a tree with its root at the top and branches at the bottom. These various institutions bearing the name of Ramakrishna, which we see sprouting up and nourishing around us, have their roots all above in Him, and so long as they draw sustenance from that source, they are sure to prosper and grow from more to more." – From an address delivered at the Ramakrishna Math, Chennai.

रहित निर्भीक संन्यासी-मन का परिचय प्राप्त होता है। उन्होंने लिखा है – "हर साँस से बोलो – जय रामकृष्ण की जय! जय स्वामीजी की जय! कैसा भय! कैसी चिन्ता! तुम तो वेदान्ती हो। तुम्हारे लिये रोग क्या और शरीर क्या है! तुम तो अखण्ड सच्चिदानन्द पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हो! वाह गुरु की फतह!"

विवेकानन्द-विद्युत् किस प्रकार विरजाननन्दजी की धमनी में किस प्रकार सहज-स्वच्छन्द रूप से दौड़ता था, यह उन्हें देखने या उनकी बातें सुनने से तो अनुभव होता ही था; उनके दैनन्दिन दृष्टिकोण तथा पत्र-व्यवहार में भी यह अविलम्ब प्रकट हो उठता था। उदाहरण के रूप में यहाँ उनके कुछ पत्रों के अंश उद्धृत किये जा रहे हैं, जिनकी हर पंक्ति से मानो विवेकानन्द ही झाँक रहे हैं – या फिर यह उन्हीं की लेखनी प्रतीत होती है। एक युवक को उन्होंने लिखा था –

"वीर बनना चाहिये और संसार को तुच्छ समझना चाहिये। मैं बड़ा दुर्बल हूँ, मैं कुछ नहीं कर सकता, आप ही कर दीजिये – इन सब भावों का त्याग किये बिना किसी काल में कुछ भी नहीं होगा। उपदेश तो तुम्हें यथेष्ट दिये जा चुके हैं। यदि उनका पालन न कर सको, तो कोई भी तुमसे कुछ करा नहीं सकेगा। तुम्हें मैंने जो भी पत्र लिखे हैं, उन्हें बार-बार पढ़ना और उसी के अनुसार चलने की चेष्टा करना। ठीक-ठीक धर्मलाभ करना बड़ी कठिन बात है – सबको नहीं होता। भीगा असार काठ हो, तो ठाकुर भी उसकी ओर दृष्टिपात् नहीं करना चाहते थे।" (दिनांक २६/११/१९४०) इस पत्रांश में स्नेह तथा करुणा के साथ तेज तथा शक्ति का कैसा अपूर्व समन्वय है!

१९४३ ई. में बंगाल में आये भयानक अकाल के समय विरजानन्दजी द्वारा लिखित एक अन्य पत्र से पता चलता है कि किस प्रकार उनके महान् हृदय में स्वामीजी के आदर्श प्रतिबिम्बित हुआ करते थे। पत्र में लिखा है –

"इस वर्ष भी मठ में दुर्गापूजा का आयोजन हो रहा है, यह जानकर प्रसन्नता हुई। ... मुझे लगता है कि इस बार की पूजा में उसके केवल नितान्त अपरिहार्य अनुष्ठानों को ही सम्पन्न करके, पूजा में यथासम्भव कम (करीब दो-तीन सौ रुपये) खर्च करके बाकी रुपये, मठ में जितने भी पीड़ित, भूखे, अनाथ, आतुर आयें, उन्हें खिलाने में व्यय करना अच्छा रहेगा। कोई भी निराश न लौटे। पर्याप्त मात्रा में केवल खिचड़ी की ही व्यवस्था करनी होगी। शाक-सब्जी जो कुछ भी हो, सब उसी में डालना। ... उसी खिचड़ी को माँ के सामने हण्डों में रखकर विराट् भोग देने के बाद उसे उदार भाव से उनकी संहार-मूर्ति इस सचल श्मशान-रूप सर्वहारा नारायण लोगों को परोसना होगा। इस बार माँ इसी रूप में पूजा ग्रहण करेंगी और हमारी पूजा सार्थक होगी। मठ के साधुजन, बड़े लोग, भद्रगण, भक्तजन – सभी इस खिचड़ी का ही प्रसाद पायेंगे। कुछ भी स्पेशल नहीं होगा। ठाकुर ने भी कहा था – हण्डी-हण्डी दाल-भात खाऊँगा। यही तो उसका समय है। इन अनशन-क्लिष्ट दुर्दशाग्रस्त लोगों को यदि हम लोग तीन दिन भी भरपेट खिला सके, अन्न-वस्त्र दे सके, तो मेरा विश्वास है कि ठाकुर-माँ तथा स्वामीजी का इससे अधिक प्रिय कोई अन्य कार्य नहीं हो सकता। दुर्दशाग्रस्त नारायणों के इस वर्तमान भीषण हृदय-विदारक दृश्य की सम्भवत: स्वामीजी भी कल्पना नहीं कर सके थे। अतएव मेरी इच्छा है कि पूजा के तीन दिन उसी प्रकार पर्याप्त मात्रा में खिचड़ी बनाकर दुर्दशाग्रस्त भूखे लोगों को भरपेट खिलाया जाय।"

इस पत्र की हर पंक्ति में मानो विवेकानन्द के ही अनन्त जीवप्रेम की प्रतिध्वनि विद्यमान है। जब अगाध ज्ञान के समुद्र में तरंग उठती है, तो वह इसी रूप में अभिव्यक्त होती है। तरंगायित ज्ञान को ही प्रेम कहते हैं।

जब वे किसी अध्यात्म-जिज्ञासु को अन्तरंग रूप से निर्देश देते, तो उस पत्र का स्वाद भिन्न प्रकार का होता, परन्तु भिन्न होने के बावजूद उसके प्रत्येक शब्द में गंगा की स्निग्धता विद्यमान रहती। ऐसे ही एक पत्र में वे लिखते हैं –

"तुम नियमित जप-ध्यान करते हो, यह जानकर प्रसन्नता हुई। स्त्री हो या पुरुष – जो कोई उनके लिये रो सकता है, वह धन्य है। प्राण का आवेग ही असल बात है। प्रेमाश्रु गंगाजल से भी अधिक पवित्र है। उससे मन का सारा मैल कट जाता है, भगवान में अनुराग बढ़ता है और उनकी कृपा होती है। तुम पूरे प्राण से उन्हें पुकारती रहो, उन्हें हृदय में रखकर उनके प्रेममय रूप के ध्यान में मग्न रहो। संसार के सुख-दु:ख तथा माया-ममता को तुच्छ मानकर वही करो, जिससे उनके प्रति लगाव तथा अनुराग दिन-पर-दिन बढ़ता रहे। इससे परम सुख-शान्ति तथा आनन्द की प्राप्ति होगी। इसी जन्म में उन्हें प्राप्त करके धन्य हो जाना, जन्म-मृत्यु के पार चली जाना। मैं प्रार्थना करता हूँ कि उनके श्रीचरणों में तुम्हारी अनन्य प्रेमभक्ति हो।"

परन्तु अनधिकारी पलायन-परायण व्यक्ति के प्रति उनका उपदेश पूरी तौर से वास्तविकता के धरातल पर होता था। सच्चे आचार्य का यही तो लक्षण है। ऐसे मामलों में भी उनकी प्रत्येक उक्ति से स्वामीजी की कठोर कर्मपरायणता का झंकार सुनायी देता है। एक व्यक्ति को एक बार उन्होंने लिखा था – "तुमने जिन आध्यात्मिक प्रसंगों की बात उठायी है, उन सबका समय अभी तुम्हारे लिये नहीं आया है। पहले खाने-पहनने की व्यवस्था करो, उसके बाद वह सब होगा। खाली पेट धर्म नहीं होता। तुम ऐसे लापरवाह हो कि गया में श्राद्ध करने जाकर सोने की अंगूठी खो आये! चाहे संसार करो या धर्म, परन्तु ऐसा होने से क्या जीवन में कोई उन्नति हो सकती है!"

परमार्थ-पथ के यात्री के लिये विरजानन्दजी एक शक्तिमान निर्देशक – सच्चे अर्थों में सुहृद तथा आचार्य थे। अद्भुत अलौकिक उपाय से वे किसी भी संशय का निवारण करके तत्काल जिज्ञासु के हृदय में ज्ञान-भक्ति का दीपक प्रज्वलित करने में सक्षम थे। महाराजजी के दर्शन तथा आशीर्वाद की आकांक्षा लेकर विद्वान् पण्डित रामनारायण तर्कतीर्थ बेलूड़ मठ में आये हुए थे। उनके मुख से श्रीमद् भागवत सुनना तथा उनके साथ शास्त्र-चर्चा करना महाराज को विशेष प्रिय था। एक दिन पण्डितजी ने हाथ जोड़कर पूछा – शास्त्रों में त्याग-तपस्या की जो बातें पढ़ने में आती हैं, उनका व्यावहारिक जीवन में ठीक-ठीक प्रयोग किया जा सकता है? महाराज ने दो वाक्यों में ही उन्हें समझाते हुए कहा – "त्याग का अर्थ है विषयों के प्रति आसक्ति का त्याग। और तपस्या? संसार में एकमात्र भगवान को ही अपना जानकर, केवल उन्हीं से प्रेम करना, यही तो तपस्या है।" पण्डितजी ने फिर पूछा – "महाराज, जिन्हें देख नहीं पाता, उनसे प्रेम कैसे करूँगा" विरजानन्दजी तत्काल दृढ़ कण्ठ से कह उठे – "कौन कहता है कि वे देखने में नहीं आते? क्षण भर में ही उनके दोनों उज्ज्वल नेत्रों में और भी चमक आ गयी और पूरा मुखमण्डल लाल हो उठा। नेत्रों से मानो विद्युत् निकल रहा था। जिनका मन-वाणी के अगम-अगोचर के रूप में वर्णन किया गया है, उन्हीं की ओर स्पष्ट इंगित करते हुए वे बोल उठे, "यहीं। वे यहीं हैं। वे यहीं तो हैं।" कहते-कहते महाराज ने सहसा स्थिर तथा गम्भीर रूप धारण कर लिया। वे ऐसे निष्पन्द, शान्त हो गये कि उनकी आँखों की पलकें तक नहीं पड़ रही थीं। इसके बात और कोई भी बात नहीं हुई, परन्तु जिज्ञासु पण्डितजी की सारी शंकाओं का समाधान हो गया। इस घटना की स्मृति पण्डितजी को आजीवन प्रेरणा प्रदान करती रही। परवर्ती काल में उसी दिन की बातें याद करते हुए भाग्यवान तर्कतीर्थ महाशय आवेगपूर्ण कण्ठ से कहते – "महाराजजी में कैसा परिवर्तन आ गया था! उनकी ऐसी अवस्था इसके पहले मैंने कभी नहीं देखी। अहा, वे कैसे परम तत्त्व में डूब गये थे। थोड़ी देर चुपचाप खड़े रहकर मैं अपलक नेत्रों से उनकी उस समाहित मूर्ति को देखते-देखते कैसा विह्वल हो उठा था! मैं बड़े आनन्द में डूब गया था। इसके बाद मैं चुपचाप उन्हें प्रणाम करके कमरे से बाहर चला आया।"

विरजानन्दजी का चरित्र विवेकानन्द-उपादान से ही गठित था, इसीलिये उनके समस्त विचारों तथा वाक्यों में स्वामीजी के ही ज्ञान-प्रेम तथा कर्म की प्रतिध्वनि सुनाई देती।

कोलकाता के विशिष्ट चिकित्सक-गण महाराज की अद्भुत सहनशीलता को देखकर विस्मित रह जाते थे। असह्य शारीरिक कष्ट के बीच भी वे कह पाते – "मेरे लिये चिन्ता की भी क्या बात है? मेरे ऊपर उनकी अपार कृपा है – बिना माँगे ही सब दिया है। और समय हो जाने पर, यदि मैं न चाहूँ, तो भी गोद में उठा लेंगे।" रोग-शय्या पर लेटे हुए भी वे भक्त-दर्शनार्थियों के प्रति करुणा दिखाने में जरा भी कृपणता नहीं करते थे। ऐसी अवस्था में भी उन्होंने दो-एक मधुर बातें कहकर या क्षण भर के लिये स्नेह-दृष्टि देकर सैकड़ों तापित लोगों को शान्ति प्रदान किया है। यहाँ तक कि जब वे मुख से कुछ बोल भी नहीं पाते थे, शारीरिक क्लान्ति या विभिन्न कार्यों में व्यस्तता के कारण आये हुए जिज्ञासुओं पर एक बार दृष्टिपात् मात्र ही कर पाते थे, तब भी वे सबकी हित-चिन्ता से विरत नहीं होते थे। अपनी आकांक्षा के अनुरूप उनसे बोलने का सुयोग न पाकर, उनके एक युवक शिष्य ने एक बार उनसे शिकायत करते हुए एक पत्र लिखा। इसके उत्तर में उन्होंने लिखा था – "केवल बातें करने को मैं बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं मानता। जान लेना कि तुम लोग चाहे दूर रहो या निकट रहो, अपने द्वारा दीक्षित प्रत्येक शिष्य के लिये मैं ठाकुर तथा माँ के चरणों में प्रार्थना करता हूँ – उन लोगों के लिये शुभ-कामना करता हूँ। तुम अपने मन में कोई खेद या दुःख मत रखना।" (११-५-१९४५)

वे आत्म-जिज्ञासुओं के विभिन्न जटिल समस्याओं का बड़े ही सहज-सरल भाव से समाधान कर देते। अपने जीवन के विविध प्रकार के अनेक अनुभवों के आलोक में किसी भी समस्या के समाधान में उनकी अपूर्व दक्षता दीख पड़ती थी। उनकी 'परमार्थ-प्रसंग' पुस्तक इसका एक उत्कृष्ट प्रमाण है। उनका यह उपदेश-संकलन हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, गुजराती आदि अनेक भाषाओं में अनूदित होकर देश-विदेश के असंख्य धर्म-पिपासुओं का परमार्थ के पथ पर मार्ग-दर्शन कर रहा है। इस ग्रन्थ का एक संस्करण अमेरिका से भी "Towards the Goal Supreme" नाम से प्रकाशित हुआ है।

जैसे खेल से थका हुआ एक बालक माँ की गोद में जाकर विश्राम करने को व्याकुल हो उठता है, मातृगतप्राण विरजानन्दजी भी उसी प्रकार चिर-विश्राम के लिये उत्कण्ठित हो रहे थे। श्रीमाँ सारदा देवी के आविर्भाव की शताब्दी आसन्न थी। मातृपूजा के इस समारोह के लिये पहला दान महाराजजी से ही संग्रह किया गया। रुपयों के रसीद को परम भक्ति के साथ अपने सिर से लगाते हुए उन्होंने अपने सेवक को आदेश दिया कि उसे उनके सिरहाने तकिये के नीचे रख दिया जाय, क्योंकि उसके माध्यम से माँ का स्मरण होता रहेगा। कभी-कभी उनके सेवक धीमे स्वर में यह प्रार्थना करते सुनकर विस्मित हो जाते – "हे प्रभो, हे माँ!" या फिर "माँ, मुझे अपने पास बुला लो, पास बुला लो।" उन लोगों को यह समझते देर नहीं लगी कि अब महाराजजी के चिर-विश्राम का समय आ पहुँचा है।

वार्धक्य तथा विविध प्रकार के शारीरिक कष्टों के बीच भी

इन दिव्य शिशु को कभी उदास या विषादग्रस्त नहीं देखा गया। हास-परिहास तथा रोचक टिप्पणियों के द्वारा अपने आसपास के सभी लोगों के मन को प्रफुल्ल रखने में वे विशेष कुशल थे। उनके वह प्रशान्त गाम्भीर्य, सूक्ष्म व्यंग्य-विनोद के साथ मिश्रित होकर जिस अपूर्व आनन्दमय परिवेश की सृष्टि करता, उसका रसास्वादन उन्हीं लोगों को हो सका है, जिन्हें उन दिनों वहाँ उपस्थित रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। प्रतिदिन जो युवा डॉक्टर महाराजजी की जाँच करने आते थे, एक दिन उनके आने में थोड़ा विलम्ब हो गया। कोलकाता से बेलूड़ मठ की दूरी भी काफी है। जैसा कि स्वाभाविक था, डॉक्टर के निर्दिष्ट समय पर मठ में न पहुँच पाने के कारण सेवकगण उद्विग्न हो रहे थे। अस्तु। उस दिन डॉक्टर के आने में काफी देरी हो गयी थी। उनके आकर महाराजजी के कमरे में प्रवेश करते ही वे खूब गम्भीर स्वर में बोले – "आओ, आओ। तुम तो बड़े खराब आदमी हो!" डॉक्टर तो ऐसा स्वागत-वाक्य सुनकर बड़े संकोच में पड़ गये। भय से उनका मुख सूख गया। उनसे कुछ बोलते नहीं बन रहा था। तब महाराजजी ने अपनी स्वभाव-सिद्ध मधुर वाणी में कहा – "देखो भाई, मैं तो अपना मन ठाकुर के चरण-कमलों में देकर बैठा हुआ हूँ; और तुम मेरे मन को इतनी देर तक इस प्रकार चुराये रखना चाह रहे थे। सुबह से मैं केवल तुम्हारे बारे में ही सोच रहा था। बार-बार यही सोच रहा था कि अब तक डॉक्टर क्यों नहीं आया!!" सभी उपस्थित लोग हँस पड़े – बेचारे डॉक्टर ने भी चैन की साँस ली और महाराज के स्नेह-करुणा को हृदयंगम करके भावविभोर हो गये।

अपने जीवन के अन्तिम तीन सप्ताह मानो वे महाप्रयाण के लिये तैयार हो रहे थे। उन्होंने भोजन का पूरी तौर से त्याग कर दिया था और जल का एक बूँद तक न ग्रहण करके मानो वे असंख्य भक्तों के अन्तिम दर्शन की आकांक्षा की पूर्ति के लिये ही धीर-स्थिर प्रशान्त महासागर के समान शय्या पर लेटे रहे। दले-के-दल आबाल-वृद्ध नर-नारी मौनपूर्वक अश्रुजल का अर्घ्य लिये उनका अन्तिम दर्शन करके धन्य हुए। कुछ काल पूर्व उन्होंने सेवकों को अपनी आसन्न महायात्रा के कई संकेत दिये थे। अन्त में ३० मई १९५१ ई. को बुधवार के दिन ब्राह्म मुहुर्त में श्रीमाँ सारदा देवी के दुलारे सन्तान और युगाचार्य विवेकानन्द के प्रिय संन्यासी-शिष्य स्वामी विरजानन्द महासमाधि के मार्ग से श्रीरामकृष्ण के श्रीचरणों में चिर-विलीन हो गये।

स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने 'अतीतेर स्मृति' नामक (बँगला) ग्रन्थ[१५] में इन तपोपूत महाजीवन का एक अत्यन्त मनोहर चित्रण किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि श्रीरामकृष्ण के पदचिह्नों पर चलनेवाले लोग इस महान् जीवन से संसार-पथ के लिये काफी मूल्यवान पाथेय संग्रह कर सकेंगे। "उनके सुदीर्घ जीवन में श्रीमाँ, स्वामीजी तथा श्रीरामकृष्ण के अन्य पार्षदों का प्रत्यक्ष सहयोग इतने घनिष्ठ भाव से प्राप्त हुआ था कि लगता मानो वे भी श्रीरामकृष्ण के ही शिष्यों में एक हैं। वस्तुतः वराहनगर मठ की जाज्वल्यमान अग्निशिखा ने जिन जीवनों को साक्षात् रूप से प्रदीप्त किया था, स्वामी विरजानन्द के देहावसान के साथ उनमें से कोई भी बाकी नहीं बचा। इसीलिये उस बहुमानित अग्निशिखा की अन्तिम किरण की विदा का क्षण निश्चित रूप से सबके मन में एक गहरी वेदना तथा शून्यता का बोध जाग्रत कर गया है।"[१६]
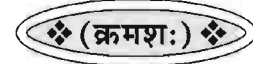
१५. अंग्रेजी में यह ग्रन्थ The Story of an Epoch नाम से रामकृष्ण मठ, मद्रास द्वारा प्रकाशित हुआ है।

१६. स्वामी श्रद्धानन्द लिखित "स्वामी विरजानन्द" लेख, जो 'उद्बोधन' (बँगला) मासिक के श्रावण १३५८ बंगाब्द अंक में प्रकाशित हुआ।

कच्चा नहीं, पक्का अहंकार करो

'मैं' पर विचार करते-करते दिखाई देता है कि 'मैं' केवल एक शब्द भर है। परन्तु तो भी इसे दूर करना अत्यन्त कठिन है। इस कारण यही कहना चाहिए कि "रे दुष्ट 'मैं'! तू जब किसी हालत में जायेगा ही नहीं, तो फिर ईश्वर का दास बनकर रह!" "मैं ईश्वर का दास हूँ" – यह 'पक्का मैं' है।

यदि देखो कि 'मैं' नहीं दूर होता तो उसे 'दास मैं' बना हुआ रहने दो। "हे ईश्वर! तुम प्रभु हो, मैं दास हूँ" – इसी भाव में रहो। "मैं ईश्वर का दास हूँ, भक्त हूँ" – ऐसे 'मैं' में दोष नहीं। मिठाई खाने से अम्लरोग होता है, पर मिश्री इसका अपवाद है। 'दास मैं', 'भक्त का मैं' या 'बालक का मैं' ये सब मानो जलराशि पर खींची गई रेखा के समान हैं। यह 'मैं' अधिक देर नहीं ठहरता।

– ***श्रीरामकृष्ण***

न मे भक्तः प्रणश्यति (४)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रस्तुत व्याख्यान स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने सन् २००८ में कलकत्ता में अरुण चूड़ीवाल जी के आवासीय सभागृह में दिया था। इसका टेप से अनुलिखन रायपुर के श्री राजेन्द्र तिवारी जी ने और सम्पादन स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है।)

दुर्योधन दुर्वासा से क्या माँगता है, इसे सुनें, इस पर विचार करें और अपने चरित्र से मिलाने का प्रयत्न करें कि मन:स्थिति कैसी है! जब हम इस संसार को दु:खमय अनित्यं असुखम् नहीं समझते हैं, तब हमारे मन में बैर, क्रोध आदि की भावनाएँ आती हैं। दुर्योधन के मन में पाण्डवों के प्रति बैर, क्रोध और ईर्ष्या भी थी। जब दुर्योधन ने देखा कि ऋषि बड़े प्रसन्न हैं, तो बड़ी नम्रता से उनसे कहा – ऋषिवर आपने मुझ पर इतनी कृपा की। आप तो जानते हैं कि युधिष्ठिर आदि पाण्डव मेरे बड़े भाई हैं। मैं चाहता हूँ कि आप मेरे इन बड़े भाइयों पर भी कृपा करें। आप उनका आतिथ्य भी स्वीकार करें। वे आजकल वन में हैं। मेरे अनुचर आपके साथ जाकर आपको बता देंगे कि वे कहाँ रह रहे हैं। अब देंखे, इसके पीछे दुर्योधन की भावना क्या थी?

दुर्योधन जानता था कि वन में पाँच पाण्डव, द्रौपदी और उनके साथ उनके कुछ प्रिय सहयोगी लोग भी गये हैं। युधिष्ठिर तो इनका ही भोजन नहीं जुटा पाते हैं। वे लोग जंगल में फल-मूल और जंगली अन्न जो कुछ होता है, उसे ही खाकर रहते हैं। जैसे अबूझमाड़ में कुल्थी मसुरा, जंगली चावल आदि होता है। दुर्वासा अपने दस हजार शिष्यों के साथ वहाँ जायेंगे और जाकर युधिष्ठिर से कहेंगे कि तुम्हारे छोटे भाई ने मुझे भेजा है। हमलोग स्नान, संध्या करके आते हैं और तुम्हारे यहाँ भोजन करेंगे। जो खुद अपने लिए भोजन नहीं जुटा पाते, वे इन दस हजार शिष्यों के साथ दुर्वासा को क्या खिलायेंगे? जब वे दुर्वासा को नहीं खिला पायेंगे, तो दुर्वासा रुष्ट हो जायेंगे और शाप देकर पाण्डवों को नष्ट कर देंगे। यद्यपि दुर्योधन ऊपर से तो कह रहा है कि पाण्डव मेरे बड़े भाई हैं, उन पर भी आप कृपा कीजिए, किन्तु उसके मन में कुटिल भाव है।

दुर्वासा तो दुर्वासा ही थे। दुर्योधन ने दुर्वासा को मार्ग-दर्शक देकर पाण्डवों के पास भेज दिया। मार्ग-दर्शक उन्हें वहाँ ले गये, जहाँ पाण्डव रह रहे थे और भोजन के कुछ ही देर पूर्व वहाँ पहुँचा कर भाग आये। युधिष्ठिर ने देखा कि दुर्वासा आ रहे हैं। दौड़कर आगे बढ़े, साष्टांग प्रणाम किया, भीम, अर्जुन आदि भाइयों को बुलाकर प्रणाम करने को कहा और हाथ जोड़कर कहा, ऋषिवर आज्ञा दीजिये। दुर्वासा ने कहा, युधिष्ठिर देखो, हम स्नान-सन्ध्या आदि करके आते हैं, मेरे साथ दस हजार शिष्य हैं। इन सब लोगों के भोजन की व्यवस्था करो। युधिष्ठिर ने कहा, जो आज्ञा। युधिष्ठिर धर्मात्मा थे। महाभारत की यह विशेषता है कि महाभारत में मनुष्य जैसा है, वैसा उसका वर्णन है। रामायण में मनुष्य को जैसा होना चाहिए, उसका वर्णन है। बहुत बार हम इन दोनों को मिलाकर भ्रान्ति में पड़ जाते हैं। भगवान राम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं। भगवान कृष्ण लीला पुरुषोत्तम हैं। लीला में तो कुछ भी लीला हो सकती है। महाभारत में व्यक्ति का जो स्वभाव है उसका वर्णन है। युधिष्ठिर बहुत धर्मिक थे, पर बहुत बार धार्मिक होने के बाद भी वे उचित-अनुचित का विचार नहीं कर पाते थे।

भगवान श्रीरामकृष्ण ने एक बार अपने एक भक्त से कहा था – ओ रे, भक्त हबी तबे बोका हबी केनो – अरे, तू भक्त होगा, पर मूर्ख क्यों होगा? युधिष्ठिर एक क्षण के लिए सोच नहीं सके कि हम पाँचों को तो खाने को नहीं मिलता है और दुर्वासा को दस हजार शिष्यों के साथ खाने का निमन्त्रण देना उचित होगा या नहीं। जब उन्होंने जाकर महारानी द्रौपदी से यह बता कही, तो उन्होंने सिर पीट लिया कि अब क्या करूँ?

पाण्डव जब वन जा रहे थे, तब महाराज युधिष्ठिर और महारानी द्रौपदी ने सूर्य की उपासना का अनुष्ठान किया। भगवान सूर्य ने प्रसन्न होकर इन्हें एक पात्र दिया। उस पात्र की विशेषता यह थी कि प्रतिदिन प्रात:काल उसमें जो भी भोजन बनाया जाता था, तो चाहे जितने लोग भोजन कर लें, जब तक द्रौपदी भोजन नहीं कर लेतीं, तब तक भोजन समाप्त नहीं होता था। वह अक्षयपात्र था। जितने भी लोग आयें, सबके लिये भोजन पर्याप्त होता था। वहाँ बहुत से ब्राह्मण लोग आया करते थे, इसलिये उन सब को भोजन कराकर सबके बाद द्रौपदी स्वयं भोजन किया करती थीं। दुर्योधन की कुटिल योजना में दुर्वासा ठीक अपने भोजन के समय के पहले पहुँचे थे और ये धर्मराज युधिष्ठिर महाराज बिना कुछ सोचे-समझे निमन्त्रण दे दिये – अच्छा ऋषिवर ! आप स्नान-संध्या करके आ जाइए, आप लोगों के भोजन की व्यवस्था होगी। जब युधिष्ठिर ने द्रौपदी को बताया तो उसने सोच लिया कि आज मेरी माँग का सिन्दूर पुछ जाने वाला है, क्योंकि मैंने भोजन कर लिया है और अब कल प्रात:काल तक इस पात्र से भोजन नहीं मिलेगा। दुर्वासा अपने दस हजार शिष्यों को लेकर आयेंगे और मेरे पास अन्न का दस दाना भी नहीं है। दूसरा कोई भी मेरी सहायता करनेवाला नहीं है। हस्तिनापुर की सभा में द्रौपदी ने देख लिया था कि

ये धनुर्धर अर्जुन, महावीर भीम, धर्मात्मा युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव मेरी रक्षा नहीं कर सके थे। वह दुखित होकर सोचने लगी। अब क्या करूँ? तब उसे किसकी याद आई? तब उसे अपने उस सखा की याद आई, जिन्होंने उसकी भरी सभा में लाज बचाई थी। जिन्होंने न मे भक्त: प्रणश्यति की उक्ति चरितार्थ की थी। अब आप देखें कि कैसे अनन्य भाव से भजन करने वाले की भगवान रक्षा करते हैं और अपने भक्त का कभी विनाश नहीं होने देते – "भजते माम् अनन्य भाक्", न मे भक्त: प्रणश्यति। द्रौपदी ने व्याकुल होकर अपने सखा भगवान श्रीकृष्ण को पुकारा – "हे गोविन्द, हे कृष्ण ! हे सखे ! आओ। आज में बहुत संकट में हूँ। तुम्हारे अतिरिक्त मेरा दूसरा कोई भी नहीं है, जो इस संकट से मेरी रक्षा कर सके। तुम कहाँ हो? जल्दी आओ और हमारी रक्षा करो !" अचानक उसी समय, जब द्रौपदी चिन्तित और दु:खी बैठी हुई है, रथ के आने की आवाज सुनाई दी। पाण्डवों ने दूर से देखा कि अरे, ये तो कृष्ण का रथ है। बड़ी तीव्रगति से रथ आकर रुका। युधिष्ठिर और भीम उम्र में भगवान कृष्ण से बड़े थे। भगवान कृष्ण चरण छूकर उनको प्रणाम किया करते थे। किन्तु आज भगवान ने उन लोगों की ओर देखा तक नहीं। रथ से कूदे और दौड़कर कुटी के भीतर द्रौपदी के पास रसोई घर में चले गये। कृष्ण स्वयं तो काले थे और द्रौपदी को भी कृष्णा कहा करते थे। द्रौपदी इतनी काली नहीं थी, किन्तु वह सखी थी, इसलिये उसे वे कृष्णा कहा करते थे। दौड़कर गये और कहने लगे, कृष्णा ! मुझे बहुत भूख लगी है, तू कुछ खिला। द्रौपदी ने सोचा, यहाँ तो पहले से ही वज्रपात हो चुका है और अब तो महावज्रपात होने वाला है। दस हजार साधुओं को पहले ही मेरे धार्मिक पति निमन्त्रण दे आये हैं। एक सखा थे जिनसे कुछ आशा थी, उन्होंने आकर यह नहीं पूछा कि तू कैसी है, कुशल तो है? रथ के रुके बिना कूद पड़े और आकर मुझसे कह रहे हैं, बहुत भूख लगी है, कुछ खाने को दे। द्रौपदी खीझकर कह रही है कि तुम्हें खिलाने के लिये मेरे पास एक दाना भी नहीं है। भगवान कहते हैं कि तुम्हारे पास तो वह अक्षयपात्र है। द्रौपदी ने कहा – वह तो है, पर तुम तो जानते हो कि जब मैं भोजन करके पात्र को माँज धोकर रख देती हूँ, तो फिर चौबिस घण्टे बाद ही दूसरे दिन जब सूर्योदय होगा, तब उस पात्र में जो भोजन बनाऊँगी वह अक्षय होगा। आज तो मैंने उसे धोकर रख दिया है। कृष्ण कहते हैं नहीं मुझे दिखा। द्रोपदी और खींझ गई, मैंने कहा न, उसे मैंने धो-माँजकर रख दिया है। अच्छा दिखा तो सही। द्रौपदी पात्र लाकर रख देती हैं। भाजी का एक पत्ता उस पात्र के कोने में कही चिपका रह गया था। भगवान ने उसे निकाला और खा लिया। भगवान के तुष्ट होने से सारा संसार तुष्ट हो जाता है – '**तस्मिन तुष्टे जगत तुष्टं**'। भगवान के खा लेने से दुर्वासा और उनके दस हजार शिष्य तुष्ट हो गये। ज्यों ही भगवान ने वह पत्ता खाया दुर्वासा ऋषि के दस हजार शिष्य कहने लगे, गुरुदेव ऐसा लग रहा है गले तक पेट भर गया है, डकारें आ रही हैं, पेट में पानी पीने तक की जगह नहीं है। दुर्वासा कहते हैं अरे, मेरा भी वही हाल है। अब जिसने हमें अपना अतिथि बनाया है, उसका अपमान होगा। जितनी जल्दी हो सके, यहाँ से भाग चलो, पीछे फिरकर मत देखना। कहीं वे लोग बुलाने आ गये और हम लोग नहीं गये, तो महा अधर्म होगा। दुर्वासा और उनके दस हजार शिष्य वहाँ से भाग गये।

अब भगवान ने वह पत्ता खा लिया था, पात्र भर गया था। अब द्रौपदी कह रहीं है, बुलाओ सबको खाने के लिए। युधिष्ठिर ने नकुल और सहदेव से कहा – जाओ, महर्षि दुर्वासा को प्रणाम करके कहना कि भोजन तैयार है, आप लोग चलिये। जब ये लोग वहाँ जाते हैं, तो देखते हैं कि वहाँ कोई नहीं है। कुछ दूसरे लोग वहाँ स्नान कर रहे थे, उनलोगों से इन लोगों ने पूछा कि भाई यहाँ कोई ऋषि आए थे? तो उनलोगों ने कहा कि हाँ कुमार, एक ऋषि तो आये थे और उनके साथ दस हजार शिष्य थे। उन सब लोगों ने स्नान किया और स्नान करते समय उनको डकारें आने लगीं थी। उनके पेट एकदम भर गये थे, तो वे लोग भाग गये। नकुल और सहदेव ने सारी बातें जाकर युधिष्ठिर आदि को बतायीं।

अब आप देखें, यहाँ किसने रक्षा की? उसी भगवान ने जिन्होंने यह घोषणा की है कि '**न मे भक्त: प्रणश्यति**', जिन्होंने यह प्रण किया है कि उनके भक्त का कभी नाश नहीं हो सकता। यदि द्रौपदी भोजन न करा पातीं, तो दुर्वासा उनकी कितनी दुर्दशा कर देते। किन्तु भगवान ने उनकी रक्षा की। तब आपका हमारा क्या कर्तव्य है? हमलोगों का यही कर्तव्य है कि हम भगवान का अनन्य भाव से भजन करें – 'भजते माम् अनन्य भाक्'। अनन्यता अर्थात् पूर्ण समर्पण। भगवान का भजन पूर्ण समर्पण के साथ करें। मन में यह दृढ़ धारणा हो जाय कि भगवान के अतिरिक्त मेरा दूसरा कोई नहीं है।

द्रौपदी ने दोनों स्थानों पर देख लिया था कि हस्तिनापुर की सभा में और वनवास की कुटिया में सिवा भगवान कृष्ण के, सिवा मेरे सखा के, इस संसार में, इस ब्रह्माण्ड में दूसरा ऐसा कोई नहीं है, जो मेरी रक्षा कर सके, मेरी सहायता कर सके। इसलिए द्रौपदी ने सब कुछ उनके चरणों में समर्पित कर दिया और उन्होंने उसकी रक्षा की। यह '**न मे भक्त: प्रणश्यति**' की प्रतिज्ञा आज भी सार्थक है और आगे भी रहेगी। कैसे रहेगी, इसकी चर्चा कल करेंगे। आप सब को धन्यवाद।

❖ (क्रमश:) ❖

एक व्यक्ति : तीन रूप

रामेश्वर टांटिया

मेरी जान-पहचान के एक मित्र हैं, जिनके घर की स्थिति शुरू से ही साधारण थी। मित्रों की सहायता और छात्र-वृत्ति से वे किसी प्रकार पढ़ लिखकर राजनैतिक और सामाजिक क्षेत्रों में काम करने लगे। सन् १९५७ में उन्हें विधान-सभा का टिकट मिल गया और वे अपने क्षेत्र में चुन लिये गए। नये मंत्री-मण्डल में उनको भी लिया गया। मैंने उन्हें बधाई का तार भेजा। उसके उत्तर में धन्यवाद-ज्ञापन का उनका जो पत्र आया, उसमें मुझे थोड़ा-सा अहंभाव युक्त औपचारिकता का निर्वाह मात्र लगा, पर उस समय मैंने इस बात पर ध्यान नहीं दिया।

कुछ महीनों बाद जब मैं राजधानी गया, तो उनके बँगले पर मिलने गया। फाटक पर वर्दीधारी सिपाही, अच्छी शानदार कोठी, सुन्दर करीने से लगाया हुआ बगीचा और पोर्टिको में बड़ी-सी कार! अर्दली से पूछने पर पता चला कि साहब घर पर ही हैं। उनके निजी सचिव को अपना कार्ड दिया और ड्राइंग-रूम में प्रतीक्षा करने लगा। वहाँ और भी पाँच-सात लोग पहले से ही बैठे थे।

ड्राइंग-रूम का फर्नीचर ऊँचे दर्जे का था। फर्श पर कीमती गलीचा बिछा था। कमरे में गाँधीजी और नेहरूजी की तस्वीरें टँगी थी, तीन-चार तस्वीरें उनके अपने स्वागत-समारोहों की भी थीं। मैं बैठा हुआ सोचने लगा कि स्वराज्य मिलने के कुछ ही दिनों पहले गाँधीजी ने कहा था कि यदि स्वराज्य मिल गया तो राष्ट्रपति-भवन और राज्यपाल-भवन, अस्पताल और गरीब विद्यार्थियों के लिये आवासगृह तथा स्कूल-कॉलेजों के काम में लाए जाएँगे। राष्ट्रपति और राज्यपाल साधारण भवनों में रहेंगे।

मेरे ये मित्र भी आपसी बैठकों में अक्सर कहा करते कि राष्ट्रपति और राज्यपालों की बात छोड़ दें, तो भी हमारे केन्द्र और राज्यों के मंत्री, राज्य-मंत्री, उप-मंत्री और संसदीय सचिव; जिनकी संख्या करीब ३५०० है – इन सभी पर प्रतिवर्ष कर-दाताओं की एक बहुत बड़ी रकम खर्च होती है। इनके दफ्तरों का काम प्राय: सचिव या अफसर देखते हैं, क्योंकि इन लोगों को तो विभिन्न प्रकार के जलसों और उद्घाटनों से ही फुरसत नहीं मिलती कि अन्य कामों के लिये समय दे सकें, यहाँ तक कि कई बार मंत्री-महोदय किसी पेट्रोल पम्प या बीड़ी के कारखाने का उद्घाटन करने के लिये भी चले जाते हैं। इन दौरों के लिये मोटरों और अफसरों का खर्च तो सरकारी है ही, इसके अलावा डी.ए. और टी.ए. के रूप में भत्ता अलग से बनता है।

यहाँ बैठे-बैठे मैंने लक्ष्य किया कि मेरे मित्र को समय का ज्ञान कम रह गया है। बड़ा खेद हो रहा था कि एक संघर्षशील कार्यकर्त्ता को मंत्रित्व के पद ने अकारण ही विलासप्रिय बनाकर जन-समाज से छीन लिया। सोच रहा था कि आखिर पिछले तीन महीनों में ऐसी कौन-सी बात हो गयी, जिससे इनके और इनके परिवार के रहन-सहन में इतना बड़ा फर्क आ गया।

आधे घण्टे की प्रतीक्षा के बाद वे भीतर से आये। "कब आया, कहाँ ठहरा" – आदि उन्होंने पूछा। मुझे ऐसा लगा कि उनकी बातों में बड़प्पन का आभास है। हो सकता है कि दूसरे बहुत-से लोग वहाँ बैठे थे, इसीलिये उनके सामने उन्होंने इस ढंग से बात करना जरूरी समझा हो।

थोड़े दिनों के बाद वे किसी सरकारी काम से कलकत्ता आये। उनके सचिव का फोन आया कि मंत्रीजी आए हुए हैं और मुझे मिलने के लिये बुलाया है। वैसे मैं खुशी-खुशी उनके यहाँ जाता, लेकिन उनके सचिव की बात का लहजा कुछ जँचा नहीं, अत: नम्रतापूर्वक टाल दिया। इससे पहले तार तथा पत्र द्वारा भी उनके यहाँ आने की सूचना आ चुकी थी और ऐसा पता चला कि यह इत्तिला दूसरे लोगों को भी दी गई थी।

कुछ दिनों बाद, मेरे एक मित्र ने मुझे बताया कि वे कह रहे थे कि कलकत्ते में न तो आप उनको लेने के लिये स्टेशन आये थे और न उनसे मिले ही। इसलिये वे आपसे कुछ नाराज हैं।

जब नया मंत्री-मण्डल बना, तो वे उसमें नहीं लिये गए। इसके बाद, जैसा कि आम-तौर से लोग किया करते हैं, उन्होंने भी खादी की एक संस्था और सहकारी-समिति की स्थापना कर ली और अपना काम देखने लगे।

एक दिन वे अचानक ही दिल्ली स्टेशन पर मिल गए। छोटा-सा बिस्तर उनकी बगल में था और थर्ड क्लास में जगह खोज रहे थे। वैसे मंत्री बनने के पहले भी तीसरे दर्जे में ही यात्रा करते थे, पर इस बार मुझे देखकर वे बहुत झेंपे।

तीन वर्षों में मैंने एक ही मनुष्य के तीन रूप देखे। पहला – खादी की ऊँची धोती, बिना इस्त्री किये हुए कपड़े, अभावग्रस्त परिवार, लेकिन हर प्रकार का सेवा-कार्य करने के लिये तत्पर। दूसरा – बगुले के पंख-जैसे सफेद कपड़े, सजा हुआ शीत-ताप नियंत्रित बँगला, बड़ी कार और तौर-तरीकों में अभिमान की स्पष्ट झलक। अब यह तीसरा रूप था – बिगड़ी हुई आदतों के कारण बढ़े हुए खर्चे की पूर्ति के लिये खादी या सहकारी-संस्था के नाम से कुछ कमाना और अगर उसमें भी सफल न हुए, तो फिर वही साधारण रहन-सहन – परन्तु अब झेंप के साथ। ❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

१६८. क्रोध शत्रु अतिशय बलवाना

गुरु द्रोणाचार्य कौरव-पाण्डव बालकों को न केवल अस्त्र-शस्त्र चलाने में प्रवीण करना चाहते थे, बल्कि उन्हें आचार-व्यवहार की भी शिक्षा देकर शीलवान, नीतिकुशल तथा मानवोचित गरिमा से युक्त बनाने के भी इच्छुक रहते थे। एक दिन उन्होंने बताया – "क्रोध मानव का अन्तरंग शत्रु है और व्यक्ति को चाहिये कि वह इस शत्रु को अपने भीतर पनपने न दे। क्रोध आते ही उसे नष्ट कर डालना चाहिये, अन्यथा क्रोध के आवेश में अनर्थ हो जाने की आशंका रहती है।" उन्होंने यह पाठ याद करके आने को कहा।

दूसरे दिन उन्होंने पूछा, "कल का पाठ क्या सबको याद है?" सबके द्वारा हाँ कहने पर उन्होंने कहा, "जिसे याद न हुआ हो, वह खड़ा हो जाय।" यह सुनते ही केवल युधिष्ठिर खड़ा हुआ। द्रोणाचार्य ने उसे पुन: याद करके आने को कहा। पर जब दो दिनों तक युधिष्ठिर ने कहा कि पाठ याद नहीं हुआ, तो गुरु को क्रोध आ गया और उन्होंने युधिष्ठिर के गाल पर एक चपत लगाते हुए कहा, "कान पकड़कर तीन बार बोलो कि कल जरूर याद करके आओगे।" चपत लगने से युधिष्ठिर तिलमिला उठे। उनकी भौहें तन गईं। पर उन्होंने एकदम शान्त भाव से कहा, "मुझे पाठ याद हो गया है।" गुरु को पुन: गुस्सा आया। वे बोले, "अभी क्षण भर पहले तो तुमने पाठ याद न होने की बात कहीं थी और मार पड़ते ही कहते हो कि पाठ याद हो गया। झूठ बोल रहे हो?"

बालक युधिष्ठिर शान्त स्वर में बोले, "आपने क्रोध न करने का पाठ पढ़ाया था; और कोई भी पाठ तब तक याद हुआ नहीं माना जा सकता, जब तक वह व्यवहार में नहीं लाया जाता। आपके द्वारा चपत लगाने पर क्षण भर के लिये मैं विचलित हो गया। मुझे महसूस हुआ कि क्रोध आने ही वाला है। परन्तु मैंने उसे आने न दिया और जब देखा कि मैंने उस पर नियंत्रण कर लिया है, तो समझ गया कि मुझे पाठ याद हो गया है।" गुरु ने कहा, "मुझे विश्वास हो गया कि तुम्हें पाठ याद हो गया है, परन्तु मुझे लग रहा है कि मुझे ही वह याद नहीं हुआ। इसी कारण मैंने स्वयं पर नियंत्रण खोकर तुम्हें चपत लगा दी।"

वस्तुत: क्रोध आने पर मनुष्य अपना धैर्य, विवेक तथा सन्तुलन खोकर अपनी तथा दूसरों की हानि कर बैठता है। अपशब्दों का प्रयोग करके वह दूसरों को आहत कर देता है। अत: दूसरों द्वारा उत्तेजित किये जाने पर भी उसे शान्त रहकर अपने क्रोध पर नियंत्रण रखना चाहिये।

१६९. निन्दक दूर न कीजिए, कीजै आदर-मान

बुखारा का राजकुमार बड़ा ही परोपकारी, गुणग्राही तथा न्यायप्रिय था। उसकी सदाचरण, सौजन्य तथा सह-अस्तित्व में बड़ी आस्था थी। इस कारण उसकी प्रजा सुखी तथा सन्तुष्ट थी। पर एक गरीब युवक को राजकुमार की लोकप्रियता फूटी आँखों भी न सुहाती। जब भी कोई राजकुमार की प्रशंसा करता, तो वह उससे उलझ जाता और राजकुमार की निन्दा करने लगता। कई बार तो वह सार्वजनिक स्थानों में राजकुमार के समक्ष भी उसकी निन्दा करने में नहीं हिचका। मंत्रियों द्वारा उसे दण्ड देने की सलाह देने पर वह कहता, "निन्दा के कारण मुझे भूलें न करने की शिक्षा मिलती है।"

एक दिन राजकुमार ने एक सिपाही के हाथों उस युवक के लिये वस्त्र से ढका हुआ एक थाला भेजा। युवक ने जब वस्त्र को हटाया, तो देखा कि उस थाल में आटा, साबुन तथा गुड़ से भरे हुए पात्र रखे हैं। उसी समय उसके घर के सामने से एक सन्त जा रहे थे। युवक ने उन्हें बुलाया और कहा, "लोग जिस राजकुमार की स्तुति करते नहीं थकते, वह मेरी निन्दा से घबराकर इन चीजों को भेजकर मुझे लालच देना चाहता है। मैं इन चीजों के लिये लालायित नहीं था, न ही इनसे मेरी गरीबी ही दूर होगी। मैं पूर्ववत् ही उसकी निन्दा करता रहूँगा।" सन्त ने गौर से उन चीजों की ओर देखा और युवक से कहा, "तुम सचमुच मूर्ख हो। राजकुमार ने तुम्हें ये चीजें लुभाने के लिये नहीं भेजी हैं, बल्कि इनके द्वारा तुम्हें अपना स्वभाव बदलने की नसीहत देनी चाही है। आटा देकर वह तुम्हारे भूख की ज्वाला शान्त करना चाहता है, साबुन द्वारा वह तुम्हारे दिल के दुर्भाव तथा कलुषता को दूर करना चाहता है और गुड़ भेजकर तुम्हारी जबान में मिठास आने की कामना करता है। यदि तुम उसके बारे में अपने दिल के पूर्वाग्रह को निकालकर, उसके गुणों को खोजने का प्रयत्न करोगे, तो तुम्हें उसकी सही परख हो जायगी।"

जनहित तथा कर्तव्य की भावना से कार्य करनेवाला व्यक्ति निरर्थक तथा थोथी शिकायतों, आलोचनाओं, निन्दा-तिरस्कार आदि से तनिक भी विचलित नहीं होता। वह अपने हृदय में निन्दा करनेवाले व्यक्तियों के विषय में किसी कटुता, ईर्ष्या-द्वेष या प्रतिशोध की भावना को नहीं पनपने देता, बल्कि उनमें सुधार लाने की चेष्टा करता है। ❑❑❑

सार्वभौमिक आध्यात्मिक ऊर्जा-शक्ति का केन्द्र : बेलूड़ मठ (१)

स्वामी प्रपत्त्यानन्द

प्रस्तावना तथा अन्य
शिव-शक्ति पीठों से भिन्न वैशिष्ट्य

भारतीय संस्कृति में ५१ शक्ति पीठ, १२ ज्यतिर्लिंग, चार धाम और अनेकों सिद्ध पीठ तथा पुण्य तीर्थ आदि हैं। सभी का अपना-अपना वैशिष्ट्य है। सभी स्थानों पर जाने पर भक्तों के मन में भक्ति और श्रद्धा का संचार होता है। किन्तु सब जगह सर्वांगीण आध्यात्मिक उद्दीपन की सर्वाधिक वस्तुयें किसी एक परिसर में उपलब्ध नहीं होतीं। कहीं केवल एक शक्तिपीठ है। कहीं केवल कोई एक ज्योतिर्लिंग है। कहीं शक्ति-पीठ और प्राकृतिक वातावरण है। जैसे माँ ज्वालमुखी और कामाख्या देवी। कहीं कोई एक ज्योर्लिंग और गंगा जी हैं। जैसे काशी विश्वनाथ जी। कहीं त्रिवेणी-संगम या अन्य पवित्र नदियों का तीर्थ है। जैसे प्रयाग में त्रिवेणी संगम। कहीं केवल सिद्धपीठ है, जैसे छत्तसीगढ़ के डोंगरगढ़ में बम्लेश्वरी देवी, बिहार के गोपालगंज में थावे की सिंहासनी काली माई तथा देवरिया में कुलकुला देवी। कहीं किसी सन्त की तपस्थली है, जिसके कारण वह स्थान महत्त्वपूर्ण है, जैसे महाराष्ट्र में शेगाँव के श्री गजानन महाराज, अलन्दी के संत ज्ञानेश्वर, संत एकनाथ जी, उत्तर प्रदेश में मुजफ्फरनगर स्थित शुकताल के स्वामी कल्याणदेव जी महाराज इत्यादि अनेकों उदाहरण हैं। ये सभी शक्ति-सिद्ध-पीठ, पुण्य-तीर्थ स्थान असंख्य लोगों में आध्यात्मिक चेतना का संचार कर रहे हैं तथा भक्तों को वहाँ पहुँचकर शान्ति तथा पवित्र ईश्वरीय जीवन जीने की प्रेरणा मिलती है।

किन्तु इस संसार में बिरला ही कोई स्थान होगा, जहाँ शिव-शक्ति पीठ, कल्मषापहारिणी माँ गंगा, गुरु, इष्ट और महान संतों की तपस्थली एक परिसर में पास-पास हों। लेकिन परम सौभाग्य है कि पश्चिम बंगाल में हबड़ा स्थित 'बेलूड़ मठ' एक ऐसा महिमावान स्थल है, जहाँ ये सभी शक्तियाँ एक साथ, एक ही परिसर में विद्यमान हैं। यहाँ आध्यात्मिक जागरण की सर्वाधिक वस्तुयें उपलब्ध हैं और इसी कारण यह विश्व के सभी धर्मों, सभी सम्प्रदायों, सभी वर्गों के आध्यात्मिक ऊर्जा का केन्द्र तथा प्रेरणा का श्रोत बना हुआ है।

स्थान परिचय

बेलूड़ मठ पुण्य भूमि भारत के बंग-प्रदेश के हबड़ा जिले में स्थित है। बेलूड़ एक ग्राम का नाम है। बेलूड़ ग्राम में इस मठ के होने के कारण, इस मठ को बेलूड़ मठ कहते हैं।

त्यागमूर्ति युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण ने स्वयं अपने पावन पाणि-पंकजों से ही काशीपुर-उद्यान में नव तपस्वी शिष्यवृन्द नरेन्द्र, राखाल आदि को अनासक्ति त्याग-वैराग्य के प्रतीक गैरिक वस्त्र प्रदान कर उन सबमें त्याग का संचार किया था। उसी पवित्र उद्यान में शिष्यों ने उनके चरणारविन्दों में आत्मसमर्पण कर 'रामकृष्ण संघ' का बीजारोपण किया था, जो आज संसार के समक्ष एक विशाल वृक्ष सदृश परिलक्षित हो रहा है। त्यागी युवा-शिष्य मंडली ने रामकृष्ण से त्याग-वैराग्य-सेवा और परमात्म तत्त्व की शिक्षा प्राप्त की थी। अत: श्रीरामकृष्ण की महासमाधि के बाद उनके त्यागी शिष्यों ने नरेन्द्र नाथ (स्वामी विवेकानन्द) के नेतृत्व में संन्यास ग्रहण कर संन्यासी-संघ की स्थापना की, जो बाद में 'रामकृष्ण मठ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सबसे पहले सन् १८८६ में यह मठ कोलकाता के वाराहनगर के एक खंडहरनूमा मकान में था। उसके बाद सन् १८९१ में आलमबाजार में, फिर बेलूड़ के नीलाम्बर बाबू के उद्यान में तथा अन्त में १८९९ में बेलूड़ में स्वामी विवेकानन्द जी द्वारा क्रय किये हुये भूखंड पर स्थानान्तरित हुआ। रामकृष्ण मठ का पंजीकरण १९०१ में हुआ। स्वामी विवेकानन्द जी ने मई, १८९७ में बलराम बोस के भवन में एक सभा बुलाकर 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की, जिसका पंजीकरण १९०९ में हुआ।

'रामकृष्ण मठ' और 'रामकृष्ण मिशन' का प्रधान कार्यालय बेलूड़ मठ में है। सम्पूर्ण विश्व में इसके १७१ केन्द्र हैं, जिसमें भारत में १२८ और विदेश में ४३ हैं। भारत में इसके केन्द्र 'रामकृष्ण मठ', 'रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम', 'रामकृष्ण कुटीर' आदि नामों से जाने जाते हैं।

रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का आदर्श वाक्य है – **आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च** – अपनी मुक्ति और जगत के कल्याण के लिये। इन दोनों संस्थाओं की गतिविधियाँ हैं – १ विवेकानन्द विश्वविद्यालय, १२ कॉलेज, २७ उच्च माध्यमिक स्कूल, ४१ माध्यमिक स्कूल, १३५ अन्य स्तर के स्कूल, १८५ अनौपचारिक शिक्षा केन्द्र, २२६ कोचींग सेन्टर, ७८ रात्रि पाठशाला और वयस्क शिक्षा केन्द्र, २ भाषा शिक्षण विद्यालय, १ वेद विद्यालय (कॉलेज), ३ संस्कृत विद्यालय, ४ पॉलीटेक्निक, ६ जुनीयर तकनीकी और औद्योगिक विद्यालय, ११ कम्प्यूटर शिक्षण केन्द्र, बालक संघ, ३३१ ज्ञानवाहिनी आदि, ११९ छात्रावास, ८ अनाथालय, ३ वृद्धाश्रम १५ हास्पीटल, १२४ (डिसपेन्सरीज) बहिरंग चिकित्सालय, ५३ सचल चिकित्सालय, २१४ पुस्तकालय,

१० बड़े प्रकाशन केन्द्र, ३ कृषि केन्द्र, ४ ग्रामीण विकास प्रशिक्षण संस्थान तथा अन्य अनेकों सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक सेवायें हैं। इसके अतिरिक्त भूकम्प, बाढ़, अकाल, महामारी, तुफान आदि के प्रकोप होने पर राहत-कार्य किये जाते हैं।

इन दोनों संस्थाओं का लक्ष्य और कार्य व्यावहारिक वेदान्त के ऊपर आधारित है –

* प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्निहित दिव्यत्व और प्रत्येक विचार और क्रिया के द्वारा इसकी अभिव्यक्ति का प्रचार करना।

* श्रीरामकृष्ण देव ने यह अनुभव किया कि सभी धर्म उसी एक परमात्मा की ओर ही अग्रसर करते हैं, जिसे विभिन्न धर्मों द्वारा विभिन्न नामों से कहा जाता है। रामकृष्ण मठ और मिशन ये दोनों संस्थायें सभी धर्मों के प्रवर्तकों का सम्मान और श्रद्धा करती है। जैसे – बुद्ध, ईसा मसीह और मोहम्मद।

* सभी कार्यों को पूजा के रूप में करना और मनुष्य की सेवा ईश्वर की सेवा के रूप में करना।

* लोगों को शिक्षा, स्वास्थ्य और ग्रामीण विकास की सुविधायें प्रदान कर उनके दुखों को दूर करने का सकारात्क सार्थक प्रयास करना।

* मानवता के सर्वांगीण कल्याण हेतु विशेषकर गरीब और पिछड़े लोगों के लिये कार्य करना।

* ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म से समन्वित व्यक्तित्व का विकास करना।

बेलूड़ मठ का प्राकृतिक सौन्दर्य

माँ गंगा का पावन तट – बेलूड़ मठ कल्मषापहारिणी पतितपावनी माँ गंगा के तट पर अवस्थित है। साहित्य की भाषा में बेलूड़ मठ माँ गंगा की गोद में है। गंगायां घोष: के बदले हम कह सकते हैं गंगायां बेलूड़ मठ:। यहाँ माँ गंगा स्निग्धता के साथ-साथ पावनता की सुगंध बिखेरकर मठ-परिसर के वातावरण को दिव्य बना देती हैं। देवीपुराण (७५/३४-३५) में माँ गंगा की महिमा का बड़ा ही सुन्दर वर्णन मिलता है –

तीर्थश्रेष्ठतमां गंगां नृणां सर्वार्थसाधिनीम्।
शक्तीं नीरमयीं मूर्तिं लोकनिस्तारकारिणीम्।।
अविद्याछेदिनीं देवीं ब्रह्मविद्याप्रदायिनीम्।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना समुपाश्रयेत्।।

– 'तीर्थों में सर्वश्रेष्ठ, मनुष्यों के कार्यों को सिद्ध करनेवाली, शक्तिस्वरूपिणी, मूर्तिमयी, जलमयी, लोगों का उद्धार करने वाली अविद्या का नाश करने वाली तथा ब्रह्मविद्या प्रदान करनेवाली भगवती गंगा का आश्रय अवश्य ग्रहण करना चाहिये।'

अपार महिमाशालिनी माँ गंगा तो स्पर्श मात्र से अपने भक्तों के महापापों का नाश कर देती हैं – **स्वर्धुनीस्पर्शमात्रेण महापातकसन्ततिः** (का.खं-८६-४०)।

काशी खंड में ही भगवति गंगा के माहात्मय का उल्लेख है, जो मुमुक्षु भक्तों के हृदय में आशा का संचार करता है –

गंगायां स्नाति यो मर्त्यो यावज्जीवं दिने दिने।
जीवनमुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते मुक्त एव सः।।
तिथि-नक्षत्र-पर्वादि नापेक्ष्यं जाह्नवीजले।
स्नानमात्रेण गंगायां संचिताघं विनश्यति।। २७/८९

– 'गंगाजी में प्रतिदिन स्नान करनेवाले व्यक्ति को जीवनमुक्त ही जानना चाहिये, मरने पर तो वह मुक्त है ही।

तिथि, नक्षत्र, पर्व आदि की अपेक्षा गंगाजी के जल में स्नान मात्र से व्यक्ति संचित पापों से मुक्त हो जाता है। अर्थात् उसके द्वारा किये हुये जन्म-जन्मान्तर के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं।'

ऐसी परम पावनी गंगा के तट पर स्थित है बेलूड़ मठ। जहाँ त्यागी तपस्वी एवं समर्पण भाव से ईश्वरार्पित निष्काम कर्म करने वाले सन्तों का निवास है। प्रात:-सायं भगवन्नाम लेते हुये विभिन्न मन्दिरों में प्रणाम करते हुये सन्त विचरण करते रहते हैं। जहाँ माँ गंगा अपनी कृपा-कटाक्ष से दर्शनार्थियों के तन-मन को पवित्र करते हुये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर विद्यमान हैं।

विभिन्न सन्तों के द्वारा लगाये गये वृक्ष विद्यमान हैं, जो उन सन्तों की याद दिलाते हैं। उन तपस्वी त्यागी संतों के गुणों एवं भक्तिमय जीवन के विषय में चिन्तन-मनन को विवश कर देते हैं। ऐसा चिन्तन भक्तों के भक्ति-वर्धन और ईश्वर-पथ में अग्रसर होने में सहायक है। बेलूड़ मठ में अभी भी वह आम का पेड़ है, जहाँ बैठकर स्वामी विवेकानन्द जी भक्तों के साथ सत्संग करते थे। श्रीरामकृष्ण के शिष्य तथा स्वामी विवेकानन्द जी के गुरुभाई स्वामी ब्रह्मानन्द जी, जो रामकृष्ण संघ के प्रथम अध्यक्ष थे, उनके द्वारा लगाया गया नागलिंगम् का पेड़ अभी भी बेलूड़ मठ में विद्यमान है। मठ परिसर विभिन्न प्रकार के पेड़-पौधों, पुष्प-लताओं आदि से सुसज्जित है। ये पेड़-पौधे मठ के प्राकृतिक परिवेश को शुद्ध और सौन्दर्य में वृद्धि करते हैं, जन-मानस को आकर्षित करते हैं, उनके मन में शान्ति प्रदान करते हैं तथा भक्तों के अन्दर भक्ति का संचार करते हैं।

भगवान श्रीरामकृष्ण का परिचय तथा भव्य मन्दिर

श्रीरामकृष्ण देव का संक्षिप्त परिचय – रामकृष्ण-भावधारा के आदर्श पुरुष युगावतार भगवान श्रीरामकृष्ण देव का जन्म १८ फरवरी, १८३६ को उत्तर-पश्चिम कलकत्ता से १२० किलोमीटर दूर कामारपुकुर ग्राम में हुआ था। उन्होंने गाँव

के विद्यालय में ही प्राथमिक शिक्षा प्राप्त की थी। वे युवावस्था में रानी रासमणी द्वारा नव-निर्मित काली-मंदिर के पुजारी बने। लेकिन ईश्वर-प्राप्ति की व्याकुलता के कारण अधिक दिनों तक पूजा नहीं कर सके। बचपन से उनमें ईश्वर-प्राप्ति हेतु व्याकुलता थी। अत: वे दक्षिणेश्वर में अनुकूल परिवेश पाकर साधना में निमग्न हो गये। जगज्जननी माँ के रूप में ईश्वर-साक्षात्कार करने के बाद उन्होंने हिन्दू धर्म के अनेक भावों तथा अन्य इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म की साधना कर परम सत्ता परमात्म तत्त्व की अनुभूति की। जीवन की पूर्ण पवित्रता, सहज अभिव्यक्ति, विलक्षण आध्यात्मिक ज्ञान और ईश्वर-प्रेम से लोग चुम्बक की तरह उनसे आकर्षित होते थे। अनेकों साधकों ने उनका शिष्यत्व स्वीकार कर ईश्वर की साधना में संलग्न होकर ईश्वरानुभूति की। उनके प्रमुख उपदेश हैं –

* ईश्वर-साक्षात्कार ही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। केवल वही मनुष्य को परम आनन्द और परम शान्ति प्रदान कर सकता है।

* ईश्वर एक हैं। विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों के लोग उन्हें विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

* विश्व के धर्मों में निर्देशित विभिन्न मार्गों से ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है।

* सभी धर्म सत्य हैं, क्योंकि वे सभी धर्म मनुष्य को परमात्मा के साक्षात्कार की ओर अग्रसर करते हैं।

* परमात्मा सबमें निवास करते हैं, इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का जाति-वर्ण-वंश भेद से रहित होकर सम्मान करना चाहिये और उसकी प्रेम से सेवा करनी चाहिये।

श्रीरामकृष्ण का स्वरूप और लीला-चिन्तन

श्रीरामकृष्ण वेद-विग्रह भगवान हैं। ये वेद-उपनिषदों के तत्त्व और अर्थ के प्रकाशक हैं। ये वेदान्त के ब्रह्म, प्रकृति के स्रष्टा तथा उनके साथ लीला करनेवाले लीलाधर भी हैं। श्रीरामकृष्ण जगत के कण-कण से प्रतिध्वनित होनेवाले शब्द-ब्रह्म हैं। ये संसार के समस्त पदार्थों के प्रकाशक हैं। ये जड़-चेतन सबके सृष्टि-स्थिति-लय स्थल हैं। ये प्राणियों के लौकिक, अलौकिक शरणस्थल हैं। ये नित्य, चेतन, आनन्दस्वरूप परमधाम पूर्णावतार हैं।

श्रीरामकृष्ण तन्त्र-मन्त्र और इनके अभिष्ट आराध्य भी हैं। ये वाच-वाचक और वाच्य भी हैं। ये शब्द और अर्थ हैं।

वाङ्मय अधिष्ठात्री देवी सम्पूर्ण संसार की शब्द-ध्वनि से इनकी स्तुति में सतत संलग्न रहती हैं। ये सर्वसम्प्रदाय सम्मानक, सर्वधर्मसत्य-अनुभवकर्ता, सर्वधर्म-सत्यप्रमाणक, सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय, सर्वजनअभिप्रेत, सर्वाभिप्सित लक्ष्य की ओर प्रेरक एवं उनके लक्ष्य-साधक सिद्धिप्रदाता हैं।

श्रीरामकृष्ण सांख्य के पुरुष हैं। ये साकार और निराकार के विबोधक हैं। ये ब्रह्माण्ड अधिपति, जगदाधार, जगत-मंच के अभिनेता और सर्व-अधीश्वर जगदीश्वर भी हैं। ये समस्त साधकों द्वारा व्यक्त ईश्वर-व्याकुलता के समन्वित रूप हैं। ये समस्त साधकों द्वारा प्रार्थित उनके प्राप्तव्य अभिष्ट भी हैं।

श्रीरामकृष्ण प्रेमावतार हैं। ये भक्ति-गंगा के मूल श्रोत गंगोत्री-गोमुख हैं। ये ज्ञान के प्रकाशपुंज हैं। ये एक निष्ठावान साधक, मुमुक्षु साधकों के साध्य और तीव्र संसाराग्नि से मुक्ति -कामी साधकों एवं ईश्वरार्थ सर्वत्यागी एकमेव परमात्मा के अन्वेषी, सर्वजनसुलभ, जन-साधारणार्थ बोधगम्य, सभी स्तर के तत्त्वान्वेषी साधकों के सुयोग्य साधन भी हैं। ये सांसारिक विषयानल से मुक्ति के उद्घोषक एवं मुक्तिप्रदाता हैं।

श्रीरामकृष्ण वेद-पुरुष हैं, जिन्होंने क्षीण होती शाश्वत वैदिक संस्कृति की महिमा को अपने आचरण से पुनर्स्थापित किया। ये वेद-मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि, वैदिक ऋचाओं के अनुभवकर्ता एवं स्वानुभव द्वारा सन्त-मुनियों के द्वारा भी अबोध तत्त्व को सरल सुगम एवं सुप्रचलित भाषा में सामान्य लोगों को भी बोध कराने वाले हैं। ये सुमधुर कण्ठ से भक्तिपूर्ण भजनों के गायक हैं।

श्रीरामकृष्ण मर्यादापुरुषोत्तम भगवान श्रीरामचन्द्र के आदर्शमय जीवन के प्रतीक, त्यागमूर्ति कर्मयोगी श्रीकृष्ण भगवान के दिव्य प्रेम और सर्वयोग-समन्वय के साक्षात् विग्रह हैं। ये राम की शूरता, श्रीकृष्ण की वीरता आदि बाह्य प्रतीक संघर्षों के ईश्वरप्राप्त्यर्थ व्याकुलता में परिवर्तक हैं। ये श्रीराम और श्रीकृष्ण के श्रेष्ठतम जीवन-आदर्श के अभिव्यंजक हैं। ये प्रेमावतार चैतन्यदेव के मूर्तरूप हैं। ये भक्त और भगवान की महिमा के सुगमबोधक हैं।

श्रीरामकृष्ण नीलकण्ठ हैं, जिन्होंने संसार के समस्त प्राणियों के पापों को निर्विचार ग्रहण कर उनके परमेश्वर-प्राप्ति के पथ को प्रशस्त किया। ये प्राणियों के अघ-विष का पान कर कभी उद्धत नहीं हुये, बल्कि शिव-सदृश शान्त समाधिस्थता के साथ-साथ सामान्य धरातल पर आकर सदा जन-कल्याण में संलग्न रहे।

श्रीरामकृष्ण शिव-शक्ति के समन्वित रूप हैं। ये अपनी षोडस कलाओं को अपने अन्तरंग नरेन्द्रादि सोलह शिष्यों के द्वारा प्रकाशक हैं। श्रीरामकृष्ण शाश्वत सनातन ब्रह्म को मातृरूप में, कालीरूप में अनुभव करनेवाले और प्रतिष्ठापक हैं। ये ब्रह्म और काली के अभेदद्रष्टा एवं एक्यबोधक हैं। ये नित्य, अनन्त, अखण्ड, अद्वितीय ब्रह्म को भवतारिणी माँ काली के रूप में प्रथम पूजक एवं स्वयं उस महान शक्ति के द्योतक हैं। वे भक्तों के कल्याणार्थ उनमें ईश्वर के प्रति श्रद्धा-भक्तिवर्धनार्थ उनके घर-घर जाकर उनमें ईश्वरभक्ति संचारक हैं।

ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने विलुप्त होती विश्व की सनातन संस्कृति के नैतिक मूल्यों के ह्रास पर क्रन्दन करती हुई भारत माता की पुकार पर अन्याय, अनाचार, अनास्था के वर्धन तथा अपने सन्तानों पर हो रहे अत्याचार से अपने संततियों की व्यग्र वेदना पर जगत को पुन: सत्पथ प्रदर्शन करने एवं शाश्वत मूल्यों के स्थापनार्थ विश्ववासियों को पुन: परमानन्द-रस के बोध कराने हेतु प्राच्य के पावन प्रदेश भारत के पश्चिम बंगाल राज्य के कामारपुकुर ग्राम में तेजोमय शरीर में आविर्भूत हुये। ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने लोक-कल्याणार्थ परम आनन्द धाम का त्यागकर, सप्तर्षि मण्डल के ऋषि को भी आने का वचन देकर, इस दु:खमय संसार में आकर भक्तों के पाप-ताप, रोग-शोक, व्यथा-वेदना को ग्रहणकर असहनीय अनिवारणीय कैन्सर के दु:साध्य रोग से उद्भूत गले की वेदना को सहन किया। ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने विपन्न परिवार में जन्म लेकर भी, सम्मुख भौतिक संसाधन की अत्यल्पता होते हुये भी बाल्यकाल से ही अर्थार्जन करनेवाली विद्या से विमुख रहे एवं ईश्वर-विद्या को स्वीकार कर सत्य तथा सदाचार से कभी विचलित नहीं हुये।

ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जो कामारपुकुरवासियों के 'गदाई' थे, जिन्होंने अपनी बाल-क्रीड़ा से माता-पिता, स्वजन-परिजन तथा ग्रामवासियों को अद्भुत आनन्द प्रदान किया तथा भौतिक ऐश्वर्य से चकाचौंध कोलकाता शहर में आकर भी सदा सरल, निष्ठावान और प्राच्य संस्कृति के वाहक बने रहे। भौतिकता में भी अभौतिक बने रहे।

श्रीरामकृष्ण सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी परम ब्रह्म पूर्ण परमात्मा हैं। ये उत्तमोत्तम साधकों के आदर्श हैं, जिन्होंने अपनी साधना पर्वतराज हिमालय के गह्वर-गुफा या किसी वन-प्रान्तर में नहीं की, बल्कि भारत के विख्यात ऐश्वर्य-विलास-सम्पन्न नगर कोलकाता के जनसंकुल दक्षिणेश्वर में किया तथा अल्पायु एवं अल्पावधि में ही अपने अभिप्सित साध्य की उपलब्धि की थी। इनकी त्याग-तपस्या तथा 'माँ, माँ' की पुकार से दक्षिणेश्वर की भवतारिणी माँ अपने पुत्र को दर्शन देने में अब और अधिक बिलम्ब नहीं कर सकीं। वे जाग्रत हो उठीं और मूर्ति भेदकर साक्षात् सम्मुखीन होकर इनके बाहर-भीतर सर्वत्र प्रकाशित हो उठीं। इनके क्रन्दन से दक्षिणेश्वर, गंगा-तट, पंचवटी, काली मन्दिर, गर्भगृह, आदि सभी निस्तब्ध एवं शोकाकुल हो जाता था। वे बिलख-बिलखकर कहते – "माँ ! तुमने रामप्रसाद को दर्शन दिया है, तो मुझे क्यों न दर्शन देगी? मैं धन, जन, भोग-सुख कुछ भी नहीं चाहता हूँ, मुझे दर्शन दे !" "माँ ! मैं जो इतना पुकार रहा हूँ, क्या तू उसका कुछ भी नहीं सुन पा रही है? रामप्रसाद को तूने दर्शन दिया है, मुझे क्या तू दर्शन न देगी?" (श्रीरामकृष्ण-लीलाप्रसंग, भाग-१, पृष्ठ-२११, २१२) जब इतने पर भी उन्हें माँ का दर्शन नहीं मिला, तब उन्होंने सोचा कि इस जीवन से क्या लाभ? और तत्काल मन्दिर में टँगी तलवार की ओर एक उन्मत्त पागल के समान दौड़ पड़े और अपने जीवन को समाप्त करनेवाले ही थे कि उन्हें माँ काली का अद्भुत दर्शन मिला।

ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने तत्कालीन ब्रह्मसमाज, वैष्णव-सम्प्रदाय इत्यादि विभिन्न सम्प्रदायों, मतवादों को सत्य घोषित किया तथा उन-उन मतावलम्बियों की लक्ष्य-प्राप्ति में सहायता की।

ये वही श्रीरामकृष्ण हैं, जिन्होंने काशीपुर-उद्यान में नित्य अनेकों अद्भुत दिव्य लीलायें कीं तथा कल्पतरु होकर उपस्थित भक्तों की मनोवांछा पूर्ण की और सबको 'चैतन्य-प्राप्ति' का विलक्षण अभय वरदान दिया था। इस काशीपुर में ही उन्होंने अपने वास्तविक दिव्य स्वरूप का उद्घाटन अपने प्रिय शिष्य नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) के सम्मुख की थी – "जो राम थे, जो कृष्ण थे, वही इस शरीर में रामकृष्ण होकर प्रकट हुये हैं।" ❖ **(क्रमशः)** ❖

पुरखों की थाती

दुर्बलस्य बलं राजा, बालानां रोदनं बलम् ।
बलं मुर्खस्य मौनित्वं चौराणाम्-अनृतं बलम् ।।

– (हर व्यक्ति के बल का केन्द्र भिन्न होता है।) दुर्बल व्यक्ति के लिये राजा का बल होता है, बच्चों का रोना ही उनका बल है, मूर्ख का मौन-धारण ही उसका बल है; और चोरों का बल उनके झूठ बोलने में होता है।

दुर्जनः प्रियवादीति नैतद्विश्वास-कारणम् ।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदये तु हलाहलम् ।।

– दुष्ट व्यक्ति यदि मीठी-मीठी बातें करता हो, तो इसी कारण उस पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिये; क्योंकि मधु तो केवल उसकी जिह्वा पर ही रहता है, लेकिन उसके हृदय में महा भयंकर विष रहता है।

परोपकार-कारिण्या परार्ति-परितप्तया ।
बुद्ध एक सुखी मन्ये स्वात्म-शीतलया धिया ।।

– जो व्यक्ति परोपकारी है, परदु:ख से दुखी है और अन्तरात्मा की शीतल बुद्धि के द्वारा ज्ञानी है, उसी को मैं सुखी मानता हूँ।

दुर्जन-दूषित-मनसां सुजनेष्वपि नास्ति विश्वासः ।
पाणौ पायसदग्धे तक्रं फूत्कृत्य पामरः पिबति ।।

– जो व्यक्ति किसी दुष्ट से धोखा खा चुका है, वह सज्जनों पर भी विश्वास नहीं करता; जैसे दूध से हाथ जल जाने पर मूर्ख मट्ठे को भी फूँक कर पीता है।